विचार दृष्टि

वर्ष : 12 जुलाई-सितम्बर 2010 अंक : 44 मूल्य : 40 रुपए

राष्ट्रभाषा विशेषांक

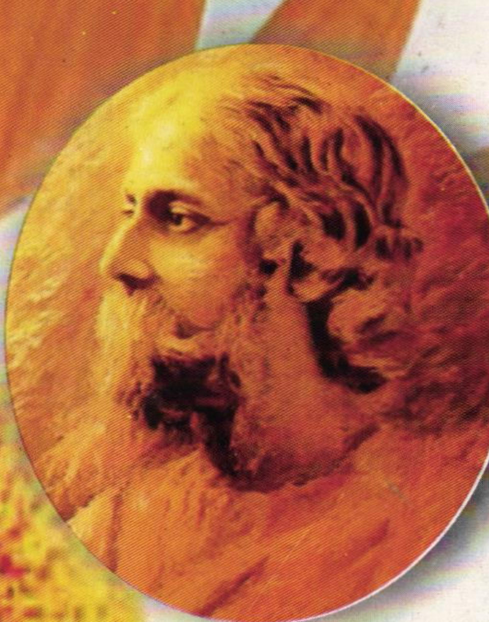

निज भाषा में ही देश की अस्मिता की पहचान

गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर : जिन्होंने भारतीय संस्कृति को नया रूप दिया

जैनसंत आचार्यश्री महाप्रज्ञ : जिनकी सर्जनात्मकता से संपूर्ण मानवता लाभान्वित हुई

मध्यकालीन हिंदी लोक-काव्य विधाओं का पुनरुत्थान

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम 1857 की प्रासंगिकता

भारत के मिजाज का खेल है क्रिकेट

नाटक के अनुवाद की समस्याएँ

राष्ट्रीय विचार मंच
का

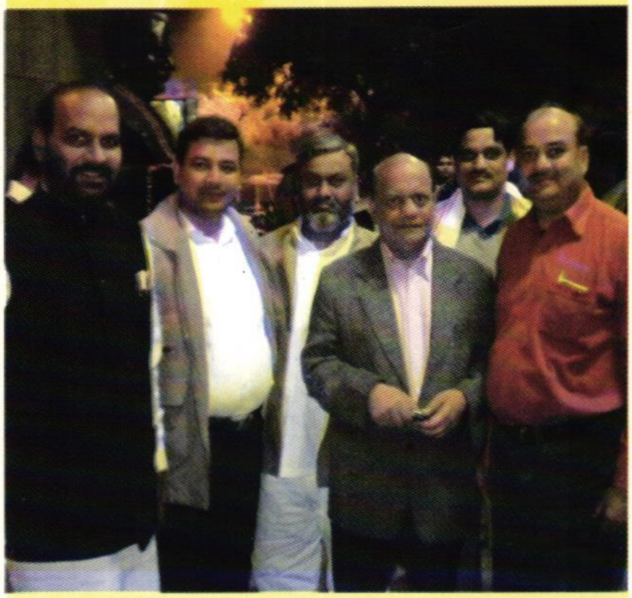

संस्कृत के उन्नयन हेतु
बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड,
के तत्वावधान में

संस्कृत के उन्नयन हेतु
बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड, पटना
के तत्वावधान में
राष्ट्रीय संस्कृत
29 दिसंबर, 2009
राष्ट्रीय संस्कृत
सम्मेलन

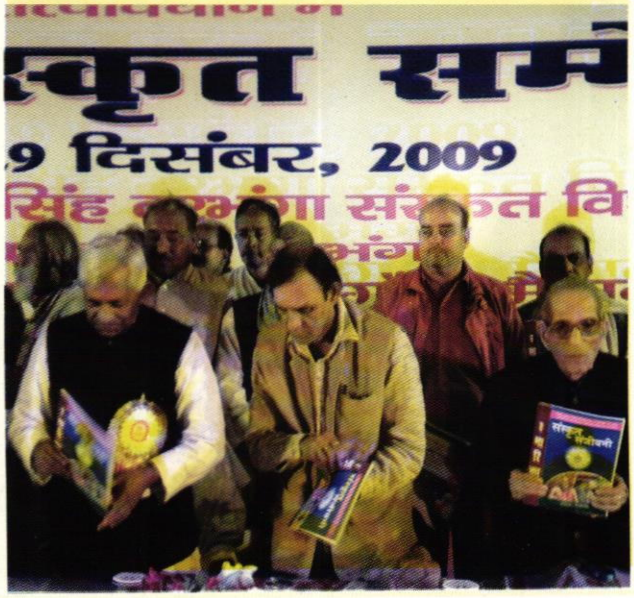
दिसंबर, 2009

विचार दृष्टि

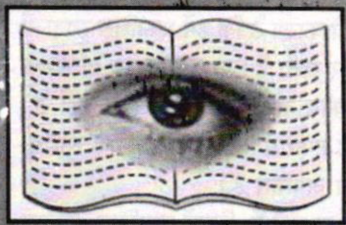

RNI REG.NO. : DEL HIN/1999/791

(राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका)

वर्ष–12 जुलाई–सितम्बर 2010 अंक–44

संपादकीय सलाहकार : नंद लाल
संपादक : सिद्धेश्वर
सहायक संपादक : उपेन्द्र नाथ
: डा. मणिकान्त ठाकुर
प्रबंध संपादक : सुधीर रंजन
आवरण साज–सज्जा : भरत कुमार

संपादकीय कार्यालय

'दृष्टि', यू. 207, शकरपुर, विकास मार्ग, दिल्ली–92
फोन : (011) 22530652 / 22059410
मोबाईल : 9811281443 / 9873434086
फैक्स : (011) 42486862

मूल्य

एक प्रति	: 40 रुपये
वार्षिक प्रति	: 150 रुपये
द्विवार्षिक	: 300 रुपये
आजीवन सदस्य	: 1500 रुपये
विदेश में एक प्रति	: US $ 08
वार्षिक	: US $ 32
आजीवन	: US $ 400

पत्रिका–परामर्शी

● अरूण कुमार भगत ● यू.पी. गुप्ता ● पी.के.झा. 'प्रेम'

पत्रिका–परिवार के सभी सदस्य अवैतनिक हैं। रचनाकारों के विचारों से पत्रिका–परिवार का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

रचना और रचनाकार

संपादकीय 3–4
निज भाषा में ही देश की अस्मिता की पहचान

पाठकीय पन्ना 2

राष्ट्रभाषा हिंदी
सब की चाहत हिंदी रानी न जाने कब होगी सयानी *–डॉ. एन. एस. शर्मा* 8–11
हिंदी संबंधी महत्त्वपूर्ण जानकारी–कलश *–डॉ. एन. एस. शर्मा* 12–14
जनभाषा और राजभाषा के संदर्भ में हिंदी भाषा 18 *–रामनारायण सिंह*
देवनागरी का सम्मान 19–22 करे देश का हर इंसान *–डॉ. एन. एस. शर्मा*
पुरखों से हमें विरासत में प्राप्त हुई हिंदी *–कु. श्रद्धा शर्मा* 23–26
प्रादेशिक स्तर पर हिंदी के 27–28 क्रियान्वयन की वस्तुस्थिति *–सिद्धेश्वर*
राष्ट्रभाषा के रूप में 29–30 हिंदी का स्वाभिमान *–सिद्धेश्वर*
भारतीय भाषाओं का संस्कार 32–33 *–डॉ. हरि सिंह पाल*

गुरुदेव की 150वीं जयंती
गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर : जिन्होंने 46–50 भारतीय संस्कृति को नया रूप दिया *–सिद्धेश्वर*

संस्मरण
जैनसंत आचार्यश्री महाप्रज्ञ : 51–53 जिनकी सर्जनात्मकता से संपूर्ण मानवता लाभान्वित हुई *–सिद्धेश्वर*

अनुवाद
शेक्सपियर के नाटकों के 5–7 हिंदी अनुवाद *–उपेन्द्र नाथ*
नाटक के अनुवाद की समस्याएँ 36–39 *–उपेन्द्र नाथ*

खेल
भारत के मिजाज का 15–16 खेल है क्रिकेट *–डॉ. स्वतंत्र कुमार जैन*

कथा–साहित्य
सफेद फूल *–दीनानाथ साहनी* 40–41
तीन लघुकथाएँ *–सरिता शर्मा* 45

लोक–साहित्य
मध्यकालीन हिंदी लोक–काव्य 43–44 विधाओं का पुनरूत्थान *–रणविजय राव*

आलोचना
प्रथम स्वतंत्रता संग्राम 54–56 की प्रासंगिकता *–डॉ. राजशेखर*

समीक्षा
मिलन के गीत : समीक्षात्मक 17 अध्ययन *– डॉ. मणिकान्त ठाकुर*
डॉ. मणिशंकर प्रसाद स्मृति–ग्रंथ 34–35 *–अलख नारायण झा*

व्यंग्य
क्रांतिकारी प्रत्यय 'गीरी' 31 *–डॉ. गोरख प्रसाद 'मस्ताना'*

गुदगुदी
जब मैं पहली बार 42 ससुराल गया *– विजय अस्थाना*

साभार स्वीकार 14

कविताएँ

◆ **कुत्ता–अतीत का** *–रीता झा* 7
◆ **साँईं बाबा से – फूल की तरह –** *–देवेन्द्र कुमार मिश्रा* 11
◆ **महाकुंभ** *–अलख नारायण झा* 14
बीज मंत्र *–राजेश रंजन कुमार*
चूजे *–डॉ. मणिकान्त ठाकुर*
◆ **आवारा नहीं होता दिल** 16 *–अशोक सिंघई*
ग़ज़ल *–आजाद कानपुरी*
◆ **हकीकत** 22 *–शशी बुद्धिराजा*
◆ **बनके सरगम** 26 *–जयसिंह अलवरी*
इन राहों पर *–डॉ. सुभाष शर्मा 'समदर्शी'*
◆ **झुग्गी–झोपड़ी** 28 *–संतोष कुमार*
जीवन के रंग *–तृप्ता शर्मा*
◆ **मेरे गीत** 30 *–डॉ. गोरख प्रसाद 'मस्ताना'*
◆ **मेरे शून्य आकाश** 33 **सीखना चाहता हूँ**

प्रिय पाठकों एवं लेखक,

'पाठकीय प्रतिक्रिया' वास्तव में पत्रिका परिवार के लिए एक दर्पण-सा होता है। यही कारण है कि हमें प्रकाशित रचनाओं और समग्र रूप में प्रस्तुति पक्ष पर आपके बेबाक विचारों/उचित प्रस्तावों का बेसब्री से इंतजार रहता है। प्राप्त पाठकीय प्रतिक्रिया एवं प्रस्तावों को हम न केवल प्रकाशित करते, बल्कि उन पर विचार भी करते हैं। 'संपादकीय कोप' का कोई ख़तरा नहीं है। नए स्तंभों की शुरुआत और समय-समय पर संशोधन-परिवर्तन इसका प्रमाण है। दूसरे दशक के सफ़र में पत्रिका और अधिक स्तरीय, पठनीय, संग्रहणीय, सुंदर एवं आकर्षक हो ; इसमें पाठकों और लेखकों का सक्रिय सहयोग अपेक्षित है।

प्राप्त पाठकीय प्रतिक्रियाओं में से हम केवल उन्हीं प्रतिक्रियाओं आदि को शामिल कर पाते हैं, जिनमें वस्तुनिष्ठ, कृतियों से संदर्भित संक्षिप्त समीक्षा/टिप्पणी या मार्गदर्शक बिंदु होते हैं। भ्रामक प्रशंसा और ईर्ष्या-दर्शी विचारों के प्रेषण से डाक-ख़र्च जाया होता है।

● *सहायक संपादक*

विचार दृष्टि के अंक–43 में संपादकीय पढ़कर दायित्व का एहसास फिर से हुआ। संस्कृत साहित्य में वैज्ञानिक चिंतन पढ़कर अच्छा लगा। सूचना प्रौद्योगिकी और हिंदी लेख से नई जानकारी प्राप्त हुई। अनुवाद संबंधी लेख में भी गूढ़ विश्लेषण किया गया है। बढ़ती उम्र में चिंता लेख ने झकझोर दिया।

◆ संजीव कुमार, लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली

आज के परिप्रेक्ष्य में आत्महत्या की बढ़ती समस्याएँ लेख में समाज की बहुत ही गंभीर समस्या का विवेचन किया गया है।

◆ खलिलुर रहमान, कार्यकारी संपादक– समय सद्भाव, नई दिल्ली

'विचार दृष्टि' का 'अप्रैल–जून 2010 अंक बहुआयामी एवं जानकारी का भंडार है। राष्ट्रीय चेतना में तमिल और हिंदी का योगदान : तुलनात्मक अध्ययन लेख में बहुत ही संतुलित विवेचन किया गया है। नियति कहानी बहुत ही रोचक है। ऐसी कहानियाँ और छापने का कष्ट करें।

◆ संजीव कुमार सिंह, संपादक–'फाइनल न्यूज', नई दिल्ली

विचार दृष्टि के 43वें अंक में बढ़ती भौतिकता के दौर में रिश्ते–नाते लेख पढ़कर आधुनिक समाज की त्रासदी का गहरा अहसास हुआ।

◆ अनिल झा, बेंगलुरु, कर्नाटक

लेखकों से विशेष अनुरोध

▼ <u>रचना की छाया/कार्बन प्रति या अस्पष्ट हस्तलिखित प्रति प्रेषित न करें।</u>

▼ रचना के मौलिक एवं अप्रकाशित/प्रकाशित होने की सूचना अंकित करें।

▼ रचना के अंत में पत्राचार का पूरा पता (दूरभाष सहित) अंकित करें।

▼ रचना के साथ पासपोर्ट आकार का फ़ोटो एवं जीवन-वृत्त संलग्न करें।

▼ समीक्षा हेतु पुस्तक/पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजें अन्यथा केवल प्राप्ति-सूचना ही प्रकाशित की जाएगी।

▼ अन्य भाषाओं की कालजयी/उत्कृष्ट रचनाओं के हिंदी अनुवाद प्रकाशनार्थ भेजें।

▼ रचना के प्रकाशन से संबंधित जानकारी हेतु जवाबी पत्र अवश्य संलग्न करें।

▼ श्रेष्ठकर होगा ई. मेल द्वारा रचनाओं का प्रेषण। रचना Kruti-Dev 010, Walkman- Chanakya 901, 902, 905 फॉन्ट्स में ही टंकण कराकर नीचे लिखे ई-मेल आईडी पर ही भेजें। हम उन्हें प्रकाशन में प्राथमिकता देते हैं।

▼ हम युवा एवं नये रचनाकारों को भी प्रोत्साहित करते हैं।

E-mail : krishnaraj74@yahoo.com
upendra74@gmail.com

विचार दृष्टि

समाचार पत्र रजिस्ट्रेशन (केंद्रीय कानून 1956, नियम 8) के अनुसार विचार दृष्टि से संबंधित विवरण

<u>प्रपत्र-4</u>

प्रकाशक का नामः सिद्धेश्वर
प्रकाशन का स्थानः दिल्ली
प्रकाशन अवधिः त्रैमासिक
मुद्रक का नाम : सिद्धेश्वर
राष्ट्रीयता : भारतीय
पताः 'दृष्टि', यू. 207, शकरपुर, विकास मार्ग, दिल्ली-110092
मालिक का नाम व पताः सिद्धेश्वर
'बसेरा', पुरन्दरपुर, पटना-1

मैं सिद्धेश्वर यह प्रमाणित करता हूँ कि मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सही है।

(सिद्धेश्वर)

तिथिः 15 जुलाई, 2010

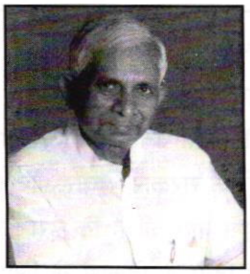

निज भाषा में ही देश की अस्मिता की पहचान

निज भाषा के विकास से ही देश और समाज सशक्त होता है। हिंदी हमारी अपनी भाषा है जिसके संबंध में स्वतंत्र भारत के संविधान में आज से साठ वर्ष पूर्व यानी 14 सितंबर, 1949 को यह प्रावधान किया गया कि यह राजभाषा है, मगर पंद्रह वर्षों तक सारा कामकाज अंग्रेजी में भी साथ–साथ चलता रहेगा। इसी के साथ यह भी सुझाव दिया गया कि पंद्रह वर्षों की अवधि में हिंदी को विकसित कर लिया जाएगा। तब से प्रत्येक वर्ष संवैधानिक प्रावधान के मुताबिक केंद्र तथा राज्य सरकारों द्वारा हिंदी दिवस, हिंदी सप्ताह, हिंदी पखवाड़ा तथा हिंदी माह मनाया जा रहा है, बावजूद इसके वही ढाक के तीन पात। छह दशक बीत जाने के बाद भी हिंदी भाषा उपेक्षित है और हमारी चेतना में अभी तक हिंदी प्रतिबिंबित नहीं हो पाई है।

दरअसल केंद्र हो या राज्य सरकार – हिंदी के उन्नयन को लेकर कोई सार्थक प्रयास हो ही नहीं रहा है। हिंदी को केवल कागजी खानापूर्ति तक सीमित कर दिया गया है। आभिजात्य वर्ग में अभी भी अंग्रेजी का ही बोलबाला है। आखिर ये सब मानसिक भाषाई विकार नहीं तो और क्या है? आज भी सरकारी भाषा के तौर पर हिंदी में न होकर आंग्ल भाषा में ही पत्र–व्यवहार का चलन है।

हमें आज इस पर गंभीरता से विचार करना होगा कि आज तक हिंदी विकसित क्यों नहीं हो पाई? आखिर वे कौन–से कारण हैं जिसके चलते भारत की संपर्क भाषा हिंदी को पीछे धकेलने का षडयंत्र आज तक रचा जा रहा है? जबकि सच तो यह है कि अब तो हिंदी कंप्यूटर और इंटरनेट वगैरह की यॉंत्रिक विशेषताएँ भी ग्रहण कर चुकी हैं। मैं यह नहीं कहता कि अंग्रेजी को छोड़ दिया जाए। ज्ञान जहाँ से लेना हो, लेना चाहिए, पहचान तो अपनी भी बनानी ही चाहिए और यह पहचान एवं गरिमा अपनी भाषा यानी हिंदी में ही मिल सकती है। इस दृष्टि से इसे जनमानस के हृदय की भाषा का दर्जा मिलना चाहिए जिसके लिए कोई ठोस योजना भी बनाई ही जानी चाहिए।

हिंदी की भाषिक संस्कृति को देखने पर हमें इसमें प्रायः सभी भारतीय भाषाओं का संस्कार मिलता है, मगर हिंदी को किसी खास प्रदेश की भाषा कहकर राजनीतिक लाभ लेने वाले राजनीतिज्ञों और व्यवस्था को अपनी मुट्ठी में रखने वाले संभ्रांतों की गहरी चाल को आम जनता न तब समझ पाई थी और न ही आज समझने के लिए तैयार है।

दरअसल, धार्मिक आंदोलन से लेकर स्वाधीनता–संग्राम तक में जिस हिंदी ने अपनी क्षेत्रीयता का कभी परिचय नहीं दिया, उसी हिंदी को कुछ लोगों ने राजनीतिक शतरंज के भारत पर एक प्रदेश दे दिया – हिंदी प्रदेश। आज भी इस बात का प्रयोग धड़ल्ले से किया जाता है। यदि हिंदी का अर्थ भाषा के रूप में लें, तो यह स्पष्ट है कि वह भाषा जिसे हिंदुस्तान के लोग बोलते हैं। क्या हिंदुस्तान केवल उत्तर भारत को कहा जाता है? कतई नहीं। उत्तर से दक्षिण तथा पूरब से पश्चिम तक फैले राज्यों एवं संघ–राज्यक्षेत्रों को हिंदुस्तान कहा जाता है।

एक अरब से अधिक आबादी वाले देश भारत के दस राज्यों के 50 करोड़ से ज्यादा लोग हिंदी बोलते हैं। यही नहीं हिंदी आज दुनिया की शायद सबसे बड़ी भाषा है। लगभग 37 देशों में हिंदी समझने वालों की संख्या डेढ़ अरब से ज्यादा है। हिंदी की चिंगारी देश के कोने–कोने से उठ रही है। आखिर तभी तो हिंदुस्तान के प्रायः सभी क्षेत्रों से प्रकाशित हिंदी की हजारों पत्र–पत्रिकाएँ हिंदी की ज्योति निरंतर जलाए जा रही हैं। वैसे हिंदी दिवस सरकारी कार्यालयों में 'खंड पाखंड पर्व' भले हो, मगर सरकार की शिथिलता और उदासीनता हिंदी को राष्ट्रभाषा बनने से रोक नहीं सकती। हिंदी भारतीय जनता की आत्मा है और इस आत्मा की चीख **मुक्तिबोध** की कविता **'अँधेरे में'** की इन पंक्तियों में कभी न कभी अवश्य सुनाई पड़ेगी–

'अब तक क्या किया
जीवन क्या जिया
ज्यादा लिया और दिया बहुत–बहुत कम

मर गया देश और जीवित रह गए हम।'

सच तो यह है कि अब तक हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित नहीं करने का कहीं गहरा अपराध–बोध और पश्चाताप सरकार को भी है। यदि सरकार ने अपने इस संवैधानिक संकल्प और विश्वास की रक्षा नहीं की है तो यह दुर्भाग्यपूर्ण है। हिंदी को राष्ट्रभाषा का दर्जा हर हाल में मिलना ही चाहिए। संयुक्त राष्ट्र संघ में देर–सबेर हिंदी को जगह जरूर मिलेगी, मगर उसके पूर्व अपने ही देश में इसे समृद्ध करने की नितांत आवश्यकता है। हिंदी की तुलना में अपने देश में अंग्रेजी को खड़ा करने की बाध्यता का तुक समझ से परे है।

वस्तुतः आजादी के बाद हम निज भाषा के लिए जर्मनी, जापान, फ्रांस, स्पेन तथा इटली जैसे देशों का अनुसरण नहीं कर सके जहाँ अंग्रेजी के झंडे उतरते ही सबसे पहले वहाँ, अंग्रेजी के अनावश्यक कूड़े–करकट से अपने–अपने पुस्तकालय साफ किए गए। इससे भी बढ़कर आश्चर्य तो हमें तब होता है जब सुनते हैं कि इंग्लैंड के आयरलैंड तक में अंग्रेजी का विरोध हो रहा है। चांसर बर्न, स्पेंसर, टेनिसन और स्कॉट खुद इंग्लैंड के पुस्तकालयों से गायब हैं। और एक हमारा देश भारत है जहाँ की राजभाषा और राष्ट्रभाषा हिंदी अपमान और अट्टहास के बीच सहम रही है, माथे की बिंदी बनने की तो बात ही छोड़िए। ऐसे में **दुष्यंत कुमार** की इन पंक्तियों को गाते हुए कुछ रुदन करने का मन करता है –

'खास सड़कें बंद हैं, कब से मरम्मत के लिए,
ये हमारे अभियान की सबसे बड़ी पहचान है।'

इन सब विषम परिस्थितियों के बावजूद हम इस बात से आशान्वित हैं कि आज जब संसार की सात हजार भाषाओं के सामने आने वाले पाँच सालों में पूरी तरह मिट जाने का खतरा मँडरा रहा है और हर सप्ताह संसार की एक भाषा हमेशा के लिए विलुप्त हो रही है, इस देश के सत्तर करोड़ बोलने–समझने वाले लोगों की हिंदी भाषा न तो विलुप्त हो रही है और न ही इसके सामने अस्तित्व का आसन्न संकट है। यह हिंदी किसी सरकार और बाजार की मोहताज नहीं है। यह हिंदी अंग्रेजी से हार नहीं रही है, बल्कि अंग्रेजी के सुविधाजनक शब्द स्वेच्छा से अपनाकर उसे पचाते हुए उसे अपने माफिक बना रही है। वह अंग्रेजी का बड़े पैमाने पर हिंदीकरण कर रही है। पिछले दिनों जब 'स्लमडॉग मिलिनेयर' फिल्म के गुलजार द्वारा लिखे गाने 'जय हो' को आस्कर पुरस्कार से नवाजा गया, तो हमारे पुराने शासक ब्रिटेन को अपना शब्द–कोश बदलना पड़ा और उसमें 'जय हो' को सम्मिलित करना पड़ा।

दरअसल, हिंदी को असली खतरा उनसे है जो इसे बदलने से रोक रहे हैं, जो सिर्फ और सिर्फ सरकार, संचार और बाजार पर टिके हैं। जरूरत केवल इस बात की है कि इसमें सुधार लाया जाए। हमने एक वर्ष में हिंदी के विकास के लिए क्या किया, इसका मूल्यांकन तो एक दिन, एक सप्ताह, एक पखवाड़ा या एक माह में हो ही नहीं सकता। हमने एक वर्ष में कितनी सफलता पाई – इसका आकलन कर कमियों–खामियों को दूर करना होगा, तभी हिंदी असली राष्ट्रभाषा के रूप में अपना स्थान बना पाएगी। हिंदी अब वेबसाइट पर भी आ गई है। संचार–माध्यम के रूप में हिंदी का अभूतपूर्व विकास हुआ है। साक्षरता बढ़ने के साथ–साथ हिंदी समाचार–पत्रों की संख्या और उनके पाठकों की संख्या में भी सुखद और आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। अब देश के किसी भी भाग में हिंदी का पहले जैसा विरोध नहीं है। यहाँ तक कि तमिलनाडु के मुख्यमंत्री करुणानिधि भी न केवल अपनी तमिल पुस्तकों का हिंदी अनुवाद करा रहे हैं, बल्कि चेन्नै में बसे हिंदीभाषियों के पास वोट माँगते हुए कहते सुने गए हैं कि वह हिंदी विरोधी नहीं हैं। संसद में जो लोग अंग्रेजी की वकालत करते हैं वे जरा अंग्रेजी में बोलकर वोट तो माँगें। उन्हें पता चल जाएगा कि आमजन अंग्रेजी नहीं निज भाषा को चाहते हैं। वैसे भी हिंदी भाषा देश को भी जोड़ने का माध्यम है और भारतीयों को न केवल हिंदी बल्कि दक्षिण तथा पश्चिम भारतीय भाषाओं को भी सीखने के लिए आगे आना होगा। हिंदी भाषियों द्वारा दूसरी भाषा सीखने से एक–दूसरे के प्रति प्रेम बढ़ता है और इससे न सिर्फ राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता को बल मिलता है, बल्कि देश की अस्मिता की पहचान बनती है। हम सब इस बात से अवगत हैं कि भारतीय समाज का निर्माण दक्षिण और उत्तर में बनने वाले दो जन–समुदायों के पारस्परिक समागम से हुआ है और इनमें आनुवांशिक इकाइयाँ एक दूसरे से इतनी घुल–मिल गई हैं कि अब इन्हें अलग बताना संभव नहीं हैं। यह प्रमाण उत्तर और दक्षिण के बीच विभाजन करने वाले राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रयासों को खारिज करते हैं और हिंदी भाषा वृहत्तर भारतीय समाज के भीतर एकता के सूत्र कायम करती है।

संपादक

शेक्सपियर के नाटकों के हिन्दी अनुवाद

❑ उपेन्द्र नाथ

विश्व के सबसे महान नाटककारों में अन्यतम शेक्सपियर का जन्म स्ट्रेटफोर्ड–आन–एवन के एक दुकानदार के यहाँ सन् 1564 में हुआ था। इनके व्यक्तित्व और उनके निजी जीवन के विषय में बहुत कम उल्लेख मिलते हैं। उनके अनेक समवर्तियों ने उनको विनम्र व्यक्ति बताया है। उनकी रचनाओं से भी सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि वे एक सह्रदय और मिलनसार व्यक्ति रहे होंगे। उनके जीवन की जो थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है उससे भी यही प्रकट होता है कि वे सादी रूचि और घरेलू आमोदों के व्यक्ति थे। बाद में वे लन्दन चले गए और 30 वर्ष की आयु होते–होते वे इंग्लैंड के सर्वाधिक लोकप्रिय नाटककार बन चुके थे। फिर भी अपने नगण्य जन्म–स्थान से उन्होंने अपना संबंध–सूत्र कभी नहीं तोड़ा जो उनकी महानता को इंगित करता है। 20 वर्ष तक नाटकों की रचना करते हुए तो वे लंदन में रहे पर उसके बाद अवकाश गहण कर घर लौट आए। लगता है कि वे थक चुके थे। पर प्रभु की माया देखिए कि उन्हें विश्राम के केवल चार ही वर्ष मिले, क्योंकि सन् 1616 में मात्र 52 वर्ष की अल्पायु में ही उनकी मृत्यु हो गई।

अपनी लन्दन–चर्चा के पूर्वार्द्ध में लिखे गए उनके अधिकतर नाटक या तो हल्के–फुल्के प्रहसन थे या फिर इंग्लैंड के राजदण्ड की छीना–झपटी और उत्तराधिकारी के संघर्ष से संबंधित ऐतिहासिक गाथाओं पर आधारित थे। कारण, शायद यह था कि उस समय ये दोनों विषय लोगों के मन में बसे हुए थे। लन्दन–जीवन के अंतिम तीन–चार वर्षों में उन्होंने परियों की कहानियों के से स्वप्निल नाटक लिखे, जिनका अन्त पुनर्मिलन और निराकरण में होता था। इन दो वर्गों के बीच में आती हैं– उनकी महान त्रासदियाँ यानि Tragedies । त्रासदी मूलतः यूरोप की देन है। त्रासदी यूरोप में भी एक रूप में नहीं है। यूनानी नाटकों से आरंभ होकर शेक्सपियर तक आते–आते वह बहुत बदली है। वस्तुतः वह जीवन की वास्तविकता के इतने निकट आ गई है कि हम अपने जीवन–दर्शन में रूढ़ न हों तो वह हमें अग्राह्य नहीं हो सकती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सन् 1600 के आसपास जाने–अनजाने उनके जीवन में एक मोड़ आया और उन्होंने ज़िन्दगी से आँखें मिलाई– उसके उतार–चढ़ावों से, उसकी विभूति से और उसकी बर्बरता से भी। इस प्रकार, उन्होंने भीषण प्रलोभन के प्रभाव में अथवा विभीषिकाओं के घेरे में मानव–चरित्र के घात–प्रतिघातों का अध्ययन करके हमें एक के बाद एक 'हैमलेट', 'ऑथेलो', 'किंग लियर' और 'मैकबेथ' नामक चार नाटक दिए जो कदाचित् संसार के महानतम नाटकों में हैं।

शेक्सपियर की कुल मिलाकर चालीस कृतियाँ कही जाती हैं जिसमें से सैंतीस नाटक हैं जिनमें शीर्ष स्थान उनके चार Tragedic नाटकों को दिया जाता है– 'मेकबेथ', 'ऑथेलो', 'हेमलेट' और 'किंग लियर' को, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

संक्षेप में, शेक्सपियर की त्रासदियों का मूल सूत्र है– अपूर्ण जीवन भले–बुरे के संघर्ष से पूर्ण होने के क्रम में है। उसमें बुरा तो नष्ट होता ही है, कुछ भला भी बुरे से अपरिहार्य रूप से जुड़े होने के कारण नष्ट हो जाता है अर्थात् जौ के साथ घून पिस जाने की बात। त्रासदी बुरे के नष्ट होने से नहीं होती, भले के नष्ट होने से होती है। पूर्णता और प्रगति में कुछ मूल्य भले को भी चुकाना पड़ता है। पर, एक अंतर सभी त्रासदियों में स्पष्ट देखा जाता है। अपने विनाश के क्षणों में जहाँ बुरा केवल अपनी विवशता देखता है वहाँ भला किसी न किसी रूप में अपने उत्सर्ग की सार्थकता से अचेत नहीं रहता। इतना भी त्रासदी को एकांत विषाद, नैराश्य, त्रास अथवा दुख के ऊपर उठा लेने के लिए पर्याप्त है। इसका आभास सभी नहीं तो कम–से–कम चारों महान नाटकों में तो पाठकों को होता ही है। विशेष अनुभूति तो नाटक को सह्रदयतापूर्वक पढ़ने से ही हो सकती है।

नाटक का अनुवाद– किसी भी साहित्य का, उसकी किसी भी विधा का अनुवाद करना बहुत दुरुह कार्य है। साहित्य का अनुवाद अपने आप में एक पुनर्सर्जना या अनुसर्जना (Transcreation) माना जाता है क्योंकि इसके अनुवाद में मूल से कहीं–कहीं छूट भी लेनी पड़ती है। मूल का भाव या आशय, बिना मूल से कहीं न कहीं थोड़ी छूट लिए नहीं आ सकता।

यों तो साहित्य की सभी विधाओं में कविता का अनुवाद करना सबसे कठिन होता है या माना जाता है पर नाटक का अनुवाद भी कम कठिन नहीं होता। नाटक अन्य साहित्यिक विधाओं से एक मायने में सबसे विशिष्ट होता है– अभिनेयता या रंगमंच के तत्त्व जुड़े होने के कारण। नाटक वही अच्छा कहा जा सकता है जो न सिर्फ पढ़ने में रसानुभूति कराए बल्कि उसमें रंगमंचीय दृष्टियों का भी अनुकूल समावेश हो।

नाटक के अनुवाद की बहुत सारी समस्याएँ अनुवाद करते समय आ खड़ी होती हैं जिनसे अनुवादक जूझते हुए दाँत खट्टे होने का अनुभव करने लगता है। संक्षेप में कहा जाए तो नाटक के अनुवाद में वातावरण का पुर्नसृजन, भाषा, शैली आदि के समप्रभावी अन्तरण, Invariant Care के संरक्षण की, मूल के समग्र प्रभाव के समअन्तरण की, प्रवाह की, पठनीयता की आदि–आदि ढेर सारी समस्याएँ आ खड़ी होती हैं। नाटकों में खासकर महान नाटकों में एक पूरी दुनिया अपनी विविधता, विशेषता और विचित्रता लेकर बोलती है। नाटककार के लिए एक कहावत 'तुम अपना मुँह खोलो और मैं बता दूँगा कि तुम कैसे आदमी हो' में निहित सार महामंत्र के समान है। महान नाटककारों में यह पाया जाता है कि वे अपने नाटकों में इसे कभी नहीं भूले। शेक्सपियर, चेखव, कामू, सार्त्र, कालिदास, भवभूति सभी के नाटकों में यह बात पायी जाती है। नाटककार सैकड़ों पात्रों में हर एक को अलग व्यक्तित्व उसकी भाषा & शैली के माध्यम से ही प्रदान करता है। एक ही भाषा बोलते

हुए भी समाज का हर वर्ग अपने रहन–सहन, जीविका–व्यापार, संघर्ष–विनोद आदि के अनुसार उसे एक विशेष रुप देता हैं इसी रूप का भाषिक एवं सांस्कृतिक अंतरण अनुवाद की सबसे बड़ी समस्याओं में अन्यतम है।

नाटक का अनुवाद करते समय सामान्य रूप से निम्नलिखित लक्ष्य अनुवादक के सामने होने चाहिए– (1) अनुवाद अविकल हो तो सर्वोत्तम रहेगा। (2) अनुवाद छायानुवाद तो नहीं ही हो। (3) सामान्यतः पद्य–भाग का अनुवाद पद्य में और गद्य–भाग का गद्य में किया जाना ज्यादा उचित प्रतीत होता है। (4) अनूदित नाटक की भाषा एवं समग्र प्रभाव ऐसा हो जिससे उसे सामान्य शिक्षित–दीक्षित जनता के सामने खोला जा सके। (5) अनुवाद, अनुवाद न लगे यानि मूल की पठनीयता, प्रवाह, प्रभाव उसमें विद्यमान हो, जहाँ तक संभव हो। दूसरे शब्दों में अनुवाद शुद्धता की सीमा में रहते हुए भी अनुवाद न मालूम पड़े।

शेक्सपियर के नाटकों के हिन्दी अनुवाद– यों तो शेक्सपियर के नाटकों के हिंदी अनुवाद करीब 70–80 वर्ष से होते आ रहे हैं पर अनुवादकों में लाला सीताराम ('मैकबेथ' के अनुवादक), रांगेय राघव, हरिवंश राय बच्चन, दिवाकर प्रसाद और नीलाभ के नाम उल्लेखनीय हैं। रांगेय राघव ने शेक्सपियर के करीब सत्रह नाटकों का हिंदी अनुवाद किया है। बच्चन जी ने चारों प्रमुख नाटकों का अनुवाद किया हैं। रागेय राघव ने 'ऑथेलो' का गद्यानुवाद किया है तो बच्चन जी ने पद्य–गद्यानुवाद। ऑथेलो का गद्यानुवाद 1930 के लगभग या उससे भी पहले किसी ने किया था पर वह अनुवादक साहित्य जगत की गुमनामी के अँधेरे में है।

प्रस्तुत लेख में शेक्सपियर के नाटकों के हिंदी अनुवादों में मूल रूप से चार महानतम नाटकों का और उनकी चर्चा बच्चन, दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी, नीलाभ के अनुवादों के संदर्भ में ही उल्लेख, विवेचन किया जाएगा।

शेक्सपियर के दुखांत नाटक 'किंग लियर' के हिंदी में पद्य–गद्यानुवाद का दावा **बच्चन जी** ने अपनी अनूदित कृति में किया है। वे भूमिका में कहते हैं **''जहाँ तक मुझे मालूम है 'किंग लियर' का अनुवाद हिंदी में अब तक नहीं हुआ। हुआ भी हो तो इतना तो मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि वह पद्य–गद्यानुवाद न रहा होगा–यानी नाटक के पद्य–भाग का अनुवाद पद्य में और गद्य भाग का गद्य में।**

शेक्सपियर के नाटकों के सम्बन्ध में इस प्रकार का प्रयास सर्वप्रथम इन पंक्तियों के लेखक (बच्चन) ने ही किया और लगभग दो वर्षों के परिश्रम के फलस्वरूप सन् 1957 में शेक्सपियर के 'मैकबेथ' का प्रकाशन हुआ।''

वे आगे लिखते हैं–

''अनूदित 'मैकबेथ' संक्षिप्त रूप में रेडियो से प्रसारित और पूर्ण रूप से रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया और उसमें जो सफलता देखी गई उससे मैं आश्वस्त हुआ कि मेरा प्रयास ठीक दिशा में जा रहा है।

इस प्रयोग से प्रोत्साहित हो 'मैकबेथ' की ही पद्धति पर मैंने 'ऑथेलो' का अनुवाद सन् 1959 में प्रस्तुत किया और वह भी रेडियो और रंगमंच के द्वारा जनता तक पहुँचा।

'हेमलेट' के अनुवाद ने, जो सन् 1969 में प्रकाशित हुआ, विधा में उपर्युक्त दो नाटको का अनुसरण किया, पर मुझे इसका खेद है कि वह रेडियो अथवा रंगमंच के माध्यम से जनता के सामने नहीं आ सका।''

ध्यातव्य है कि उपर्युक्त उल्लिखित चारों नाटकों में से किसी न किसी दृष्टि से प्रत्येक के लिए यह दावा किया गया है कि वह औरो से श्रेष्ठ है। 'किंग लियर' की सर्वश्रेष्ठता के दावेदारो की भी कमी नहीं है। प्रसिद्ध निबंधकार **हैजलिट** की स्पष्ट राय है कि **King Lear is the best of all Shakespeare's plays. ब्रैडले** ने लिखा है कि **यदि कभी ऐसी दुर्घटना हो जाए जिसमें शेक्सपियर के एक मात्र नाटक को बचाना संभव हो तो अधिकतर लोग किंग लियर को बचाना चाहेंगे। शैली** ने लिखा–**''King Lear is the most perfect of specimen of the dramatic art existing in the world.**

नीलाभ ने भूमिका में लिखा है

''अगर यह कहा जाए कि शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद या रूपान्तर आसान काम नहीं हैं तो ऐसा कहना भी उन दिक्कतों को कम करके आँकना होगा जो इस काम में पेश आती हैं। शेक्सपियर की कृतियाँ अलग–अलग युगों के लोगों को मानवीय व्यवहार की नयी–नयी झाँकियाँ दिखाती हैं, नए–नए पहलू उजागर करती हैं और साथ ही ऐसी मूलभूत सामग्री भी उपलब्ध कराती है जिसकी मदद से समकालीन यथार्थ को समझने–समझाने की कोशिश की जा सकती है। हर नया अनुवाद मनुष्य के बारे में शेक्सपियर के नजरिए को फिर से व्याख्यायित करता है।''

वे आगे कहते हैं–

''ऐसे बहुत से नाटककार हैं जिन्होंने नाटक की विधा को अभिनेताओं की क्रीड़ा–भूमि के रूप में इस्तेमाल किया है, शेक्सपियर की खूबी यह है कि उसने नाटकों को साहित्यिक कृतियाँ भी बना दिया है।''

बच्चन जी कहते हैं–

''अनुवाद मूल का स्थान नहीं ले सकता। मूल से परिचितों को अनुवाद हेय लगे तो अस्वाभाविक न होगा। मूल से अनभिज्ञों को अनुवाद से मूल की महत्ता का कुछ भी आभास मिल सके तो मैं अपने श्रम को व्यर्थ न समझूँगा''।

मूल (Othello का) –

Roderigo:- Tush, never tell me; I take it much unkindly That thon, Iago, who hast had my purse

As if the strings were thine, shouldistknow of this-

अनूदित (बच्चन जी का) –

राडरीगोः हट, मत मुझसे बन; मैं इससे बहुत दुखी हूँ किन्तु, इयागो, जिसने मेरी दौलत खर्ची ऐसे, जैसे मेरी गँजिया की डोरी बस तेरी ही हो, यह सारा कुछ जान रहा था।

अनूदित (दिवाकर प्रसाद का) –

राडरिगोः चुप भी रहो, ऐसी बात कदापि मुझसे न कहो। मुझे इसका बड़ा दुख है इयागो, कि मैंने अपने धन का अपने ही समान तुम्हें भी स्वामी समझा, फिर भी ऐसी बात करते हो।'

निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद करना बहुत कठिन है। हिंदी में शेक्सपियर के शब्दों का समतुल्य अर्थ निकालना, उसकी बहुअर्थगर्भिता का समावेश किसी एक शब्द को लेकर करना बहुत–बहुत मुश्किल है। उदाहरण के लिए 'किंग लियर' में 'नेचर' शब्द बार–बार आया है और दस से ज्यादा अर्थों में (संदर्भगत)। इसका एक शब्द प्रकृति रखना नितांत अपर्याप्त है। गद्य का गद्य में पद्य का पद्य में अनुवाद करने में तो कुछ ज्यादा ही मुश्किलें पैदा होती है।

इतना तो कहना ही पड़ेगा कि शेक्सपियर के नाटकों की सार्वकालिकता, निगूढ़ जीवन तत्त्वों की बहुआयामिता आदि के कारण उनके अनुवाद पहले भी हुए हैं, आज भी होते हैं और आशा है आगे भी होते रहेंगे। हर अनुवाद अपना अलग वैशिष्ट्य लेकर आएगा, आया है और इससे हिंदी के पाठकों को विदेशी संस्कृति से न सिर्फ रूबरू होने का मौका मिलेगा बल्कि उनका रसास्वादन भी होता रहेगा।

संदर्भ–ग्रंथ :– *हिंदी*

1. अय्यर, विश्वनाथ : **अनुवाद कला,** प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1990।
2. कुमार, अजीत (संपा.) : **बच्चन रचनावली–5,** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983।
3. ओझा, कैलाशपति : **हिंदी त्रासदी – सिद्धांत और परंपरा,** साहित्य सदन, देहरादून, 1968।
4. कौशिक, देवदत्त : **अरस्तू का त्रासदी विवेचन,** मैकमिलन, दिल्ली, 1977।
5. राघव, रांगेय सुलोचना : **रांगेय ग्रंथावली,** राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1982।
6. श्रीवास्तव, रविन्द्रनाथ & गोस्वामी, कृष्ण कुमार (सं.) : **अनुवाद–सिद्धांत और समस्याएँ,** आलेख प्रकाशन, दिल्ली, 1995
7. मिश्र, विश्वनाथ : **हिंदी नाटक का पाश्चात्य प्रभाव,** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1977।
8. अमृतराय (अनु.) : **हैमलेट,** हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1994
9. राघव, रांगेय (अनु.) : **हैमलेट,** राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 2001

अंग्रेजी

1. Bradley, A.C. : **Shakespearean Tragedy,** London, 1966.
2. Bullough, Geoffrey (ed.) : **Narrative and Dramatic Sources of Shakespeare,** Routledge and Kegan Paul, London, 1973.
3. Dowden, Edward: **Shakespeare : A Critical Study of his mind and art,** London, 1953.
4. Irving, Henry and Marshall, Frank A. (ed.) : **The William Shakespeare Encyclopaedia, vol. VIII,** COSMO Publications, New Delhi, 1991.
5. Mc Elroy, Bernard : **Shakespeare's Mature Tragedies,** Princeton University Press, New Jersy, 1973.
6. Taylor, Gary : **Reinventing Shakespeare : A Cultural History from the Restoration to the Present,** Hogarth Press, London, 1989.

बी–173, मधु विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली– 59

कुत्ता–अतीत का

रीता झा

कुत्ता– अतीत का / कभी भौंकता है,
कभी नोचता है / कभी काटता है। अतीत ....
नाचता प्रतीत होता है / आँखों के आगे
कभी झाँकता है / मन की गहन / अमराइयों में।
मधुर अतीत संगीत होता / वर्तमान के वीराने में,
भविष्य के सपने में।
अतीत के खूँटे से बँधे हैं हम / अदृश्य डोरी पड़ी है गले में
गोल–गोल जीवन–वृत्त बनाते हैं।
हम–खूँटे से बँधी एक गाय की तरह।
देखो! एक कटी पतंग– / डोल रही है हवा में ढीली–ढाली।
पता नहीं किधर गिरेगी / पेड़ों पर, तालाब में, खेतो में,
खलिहानो में / बच्चे भी दौड़ रहे हैं लूटने उसे।
पतंग भी सोच नहीं पा रही अपने पतन को।
डोलते–डोलते वह बबूल में अटक जाती है–
अनचाहे–अनजाने / रोती–सिर धुनती / तभी–
हवा का एक झोंका आया / चल पड़ी वह हवा के संग–संग।
चलती–चलती गिर पड़ी वह / कारखाने में– एक कागज के!
सभी गल रहे हैं– / कोई चीख रही है,
कोई व्याकुल हो रही है– / कोई खुश नहीं अपने वर्तमान से
पतंग भी सिहरती है / अपने वर्तमान से।
वह याद कर रही है– / अपने मधुर अतीत को / तभी–
एक बालक उसे उठा लेता है।
पूँछ चिपकाकर / नये माँजे से बाँधकर
उड़ा देता है–आसमान मे / अब वह आकाश की
ऊँचाईयों को नापती हुई / इठला रही है।
खुश है / आखिर वह / अतीत से भी / जो जुड़ गई है।

W/o नवीन कुमार झा, 67, सेक्टर–9, पॉकेट–2, द्वारका, नई दिल्ली

सब की चाहत हिंदी रानी न जाने कब होगी सयानी

❑ डॉ. एन. एस. शर्मा

कभी उत्तर में घूमती-फिरती रहने वाली और कभी दक्षिण में छलांग लगाती रहने वाली यह घुम्मकड़ हिंदी स्वतंत्रता-संघर्ष के दौरान राष्ट्रीयता का परिचय देकर सन् 1950 में राजभाषा के पद की अधिकारिणी बनी। भौतिक एवं राजनैतिक परिवर्तनों की साक्षी यह बोली अपने जन्मकाल से अभी तक अनेक उत्थान-पतन, विवादों एवं उलझनों भरे सोपानों को पार करती हुई ही राजभाषा बनी है। आखिर बनती भी क्यों नहीं। क्योंकि जयमाला तो उन्हीं के गले में पड़ती है जो कष्टों और काँटों भरा सफर तय करते हैं।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि 18 बहनों में सबसे लाडली इस हिंदी को सीमाओं में बँधे रहने की आदत बिल्कुल पसंद नहीं, इसीलिए आज अंतर्राष्ट्रीय मंच पर पहुँचकर संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषाओं में भी सम्मिलित होने हेतु यह घात लगाये बैठी है। यद्यपि, संविधान में तो हिंदी आज राजभाषा बन गई है तथापि सरकारी कामकाज में हिंदी को अंग्रेजी की जगह प्रयुक्त करने की स्थिति अभी भी निराशाजनक है। भले ही अंग्रेजों के न सही पर अंग्रेजी के हम आज भी गुलाम हैं। हर गली-कूचे में आज अंग्रेजी माध्यम वाले ही अधिकांश स्कूल नजर आते हैं। हर संरक्षक आज भी अपने नादान बच्चों को इसलिए अंग्रेजी स्कूलों में डालते हैं कि जीवन में कुछ बनने के लिए अंग्रेजी पढ़े बिना उनकी कोई पूछ नहीं है। उनका यही मानना है कि अंग्रेजी ही सफलता की गारंटी है। फिर दोषी कौन? हम या सरकार!

अभी तक हिंदी को अंग्रेजी की स्टेपनी बनाकर चलाया जा रहा है। हिंदी की बैठकों तथा सम्मेलन के कागजातों में तो हम इसे अपनाने हेतु बराबर जोर देते हैं जबकि अपने ही घर में लागू न करके इसे उस समय हम भूल जाते हैं जब अपने ही बच्चों को हिंदी स्कूलों में न डालकर उन्हें हम पब्लिक स्कूलों में पढ़ाते हैं व अपने घरों में हिंदी की नेम प्लेट (नाम पट्ट) न लगाकर अंग्रेजी की नेम प्लेट लगाने में तनिक भी नहीं हिचकते।

नि:संदेह यह बहुत ही बड़ी विडम्बना है कि विश्व के सबसे बड़े प्रजातंत्र में शासन की भाषा अपने देश की भाषा न होकर सात समुद्र पार वाले विदेशियों की भाषा हो। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय समाज के उच्च वर्ग ने जन साधारण को बहकाने के लिए ही हिंदी को अस्त्र के रूप में अपनाया जबकि हृदय से उन्होंने कभी भी इसे नहीं स्वीकारा। उनके मन में अंग्रेजी के मोह की जमी हुई जड़ें अब इतनी सबल हो गई हैं कि उन्हें समूल उखाड़ फेंकना अब असंभव सा प्रतीत होता है। जिस देश में हिंदी जैसी दर्जनों उन्नत भाषाएँ हों और वहाँ के निवासी अपना काम किसी विदेशी भाषा में करें, नि:संदेह यह निंदनीय है।

उच्च अधिकारियों का अंग्रेजी मोह ही हिंदी की प्रगति में रुकावट का मुख्य कारण है। उनके अनुसार संस्कृतयुक्त गढ़े गये नये-नये जटिल शब्दों ने इसे इतना क्लिष्ट बना दिया है कि हिंदी के दिग्गजों को भी उन्हें समझने में कठिनाई आती है। इसके अतिरिक्त राजनैतिक लाभ के लिए भी इसे हथौड़े के रूप में ग्रहण किया जाता रहा है तथा अनेक राज्यों में तो अनिवार्य विषय न बनाकर द्वितीय या तृतीय भाषा के रूप में वैकल्पिक तौर पर ही इसे पढ़ा जाता है। वास्तव में हिंदी का मुकाबला तो अंग्रेजी से है न कि इसके समाविष्ट भोजपुरी, मैथिली और राजस्थानी आदि अन्य बोलियों से जैसा कि कुछेक इने-गिने हिंदी भाषी लोग इन्हें भी हिंदी से अलग और स्वतंत्र भाषा मानते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि हमारी अधिकांश योजनाएँ अंग्रेजी में बनती हैं और जिनके लिए वे बनती हैं अधिकांशतया या तो अंग्रेजी उनको आती नहीं और यदि आती भी है तो वह न के बराबर। आजादी के स्वर्ण-जयंती वर्ष में भी हम हिंदी की प्रगति रिपोर्ट भेजने में ही उलझे हुए हैं।

इस देश की विभिन्न लिपियों व शब्दों की एकरूपता तथा समान वर्त्तनी का अभाव भी हिंदी के मार्ग में रोड़ा बना हुआ है क्योंकि न केवल केंद्र और राज्यों में बल्कि भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों/विभागों में ही पारिभाषिक हिंदी शब्दों के प्रयोग में समानता नहीं है। इस मनमाने प्रयोग पर यदि अंकुश नहीं लगाया गया तो हिंदी का यह सजा-सँवरा रूप दिन-प्रतिदिन बिगड़ता चला जाएगा। अत: अखिल भारतीय स्तर पर समान वर्त्तनी और शब्दों की एकरूपता अपनाई जाए। विगत 50 वर्षों में से 44 वर्षों तक यद्यपि इस देश का नेतृत्व हिंदी भाषी कर्णधारों ने ही किया है तथा भाषाई बागडोर सँभालने संबंधी कार्य अंग्रेजी ही बखूबी निभाती आ रही है हालाँकि 1947 के राधाकृष्ण आयोग तथा 1966 के कोठारी आयोग का भी यही मानना था कि न केवल शासन का ही कार्य हिंदी में हो बल्कि स्कूलों और विश्वविद्यालयों में भी शिक्षण का माध्यम अंग्रेजी न होकर हिंदी या अन्य भारतीय भाषाएँ ही होनी चाहिए। इस मामले में यदि सरकार कुछ और सतर्क रहे तो अंग्रेजों की तरह अंग्रेजी के कदम भी यहाँ से उखड़ जायेंगे और हिंदी को उसका ताज और तख्त दोनों वापस मिल जाएँगे।

जहाँ तक संगीत, कला और साहित्य का प्रश्न है, वहाँ हिंदी को अपनाने में कोई कठिनाई नहीं है। कठिनाई यदि है भी तो विज्ञान, व्यापार, तकनीकी एवं अनुसंधान के क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाले अंग्रेजी शब्दों के मुकाबले हिंदी शब्दों की कमी हमें अखरती है। उन शब्दों के लिए यदि कोई नया शब्द गढ़ भी लिया जाता है

तो प्रचलन में न होने के कारण सभी पाठक उसका अर्थ भी नहीं समझ पाते हैं। इस प्रकार हिंदी के नये शब्द के भी प्रचलन में न आने के कारण सभी पाठक उसका अर्थ भी नहीं समझ पाते हैं। इस प्रकार हिंदी शब्दों के लिए हमें फिर अंग्रेजी शब्द-कोश के अंग्रेजी शब्दों का ही सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार हिंदी के नये शब्द भी चलन में न आने के कारण पिछड़ जाते हैं और धीरे-धीरे उनका प्रयोग समाप्त हो जाने से प्राय: वे लुप्त हो जाते हैं।

कुछ अर्सा पूर्व कलकत्ता की सड़कों पर हजारों स्कूली बच्चों ने अपने हाथों में तख्ती लिए एक जुलूस निकाला था कि हम पहली कक्षा से ही अंग्रेजी पढ़ना चाहते हैं। जरा ध्यान दीजिए कि क्या यह माँग पहली या दूसरी कक्षा में पढ़ने वाले बच्चों की थी जो न केवल हिंदी या अंग्रेजी से बल्कि अपनी मातृभाषा, बांग्ला से भी शायद अभी तक पूर्ण परिचित न हों। जाहिर है कि बच्चों की न होकर यह अध्यापकों या अभिभावकों की माँग थी जिसमें उन नन्हे बच्चों को आगे कर दिया गया था। इसी प्रकार कुछ दिन पहले राजस्थानी को भी अनुसूचित करने तथा उसे क्षेत्रीय भाषा बनवाने हेतु राजस्थान विधान सभा में प्रस्ताव पर भी विचार हो चुका है। हिंदी का पक्ष कमजोर होते देख देश के कुछ राष्ट्रनेताओं के प्रयास के फलस्वरूप यह स्वीकृत नहीं हो पाया। इसे दूरगामी दुरभि संधि ही कहा जा सकता है कि जो क्षेत्रीय भाषाओं के संवर्धन की आकर्षक चासनी में लपेटी हुई विष की गोली के समान होगी।

यह सही है कि सरकारी हिंदी कुछ क्लिष्ट और अजनबी है और ऐसी जटिल भाषा सरकार द्वारा स्वीकृत भले ही हो जाये पर लोक स्वीकृत होने में उसे अभी पर्याप्त समय लगेगा। ठीक है कि हमारे कुछ अंग्रेजीदां हिंदी के खासे विरोधी हैं पर इसका यह अर्थ नहीं कि हिंदी के दिग्विजय का रथ उनके ही रोके रुका हुआ है। वे और कारण हैं जिन्होंने हिंदी के रथ के पहियों के नीचे कुछ विशाल पत्थर रख दिए हैं। विधि-विज्ञान और प्रौद्योगिकी जैसे शब्दों के अभाव के कारण हिंदी ही क्या कोई भी भाषा सक्षम नहीं हो सकती। अचरज नहीं कि निरक्षरों का सर्वाधिक प्रतिशत हिंदी भाषी क्षेत्रों में ही है। स्वाधीनता के बाद स्कूलों एवं महाविद्यालयों की संख्या तो बढ़ गई पर वे पढ़ाई की जगह गुंडागर्दी के केंद्र बन गये।

हमारे संविधान का 17वाँ अध्याय राजभाषा से संबंधित है। इसकी धारा 343(1) के अनुसार संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी होगी। संविधान के महत्त्वपूर्ण अनुच्छेदों को तत्काल लागू कर दिया गया था और शेष अनुच्छेदों को 26 जनवरी, 1950 से लागू कर देने का आदेश दिया गया था। लोकमान्य तिलक, पुरुषोत्तम दास टंडन, महात्मा गाँधी आदि जैसे बुद्धिजीवियों ने संविधान के अंत में अपने हस्ताक्षर भी किए हैं। कोई भी बुद्धिमान ऐसे दस्तावेज पर तभी हस्ताक्षर करता है जबकि वह दस्तावेज में लिखित बातों से पूर्णतया सहमत होता है। जब अंग्रेजी के स्थान के बारे में प्रश्न उत्पन्न हुआ तब सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया कि संविधान के प्रारंभ से 15 वर्ष की कालावधि के लिए अंग्रेजी लिंक लैंग्वेज (सह संपर्क भाषा) के रूप में जारी रहेगी और उसके बाद हिंदी ही संघ की राजभाषा होगी। भाषा संबंधी इस संवैधानिक नीति का पालन करने और कराने का दायित्व केंद्र सरकार पर है परंतु आजादी के 63 वर्ष बीतने के बाद भी केंद्र सरकार अपने इस दायित्व के प्रति उदासीन है। हिंदी के प्रति सरकार की घोर उपेक्षा के अनेक उदाहरण हैं, किंतु इनमें से उल्लेखनीय है- हिंदी में लिखे गये संविधान की उपेक्षा। विगत 50 वर्षों में हमारी सरकार ने हिंदी में लिखे गए मूल संविधान के दो-दो संस्करण ही निकाले। जब दूसरा संस्करण 1989 में निकाला गया था तब देश के सभी शिक्षण संस्थानों, ग्रंथालयों तथा पुस्तकालयों के पास विज्ञापन भेजा गया था जिसमें अपनी प्रति पहले ही आरक्षित करने वालों को 800 रुपये के बदले 600 रुपये की रियायत कीमत में उसे उपलब्ध करा देने का आश्वासन भी सरकार ने अपने 18 मई 1989 के पत्र में दिया था। एक ओर केंद्र सरकार यहाँ के प्रबुद्ध नागरिकों एवं प्रतिष्ठित संस्थानों से यह आग्रह कर रही थी कि वे संविधान की मूल अंग्रेजी प्रति का नया संस्करण खरीदें क्योंकि यह बहुमूल्य संस्करण है, इसके हर अध्याय के आरंभ में प्रसिद्ध चित्रकार नंदलाल बोस द्वारा चित्रित सुंदर चित्र हैं जो हमारे उज्ज्वल इतिहास, महान संस्कृति एवं अखंड परंपरा पर आधारित हैं, इसके अंत में संविधान समिति के सदस्यों के हस्ताक्षर हैं आदि। तो दूसरी ओर हिंदी का उतना ही महत्त्वपूर्ण और बहुमूल्य हस्तलिखित संस्करण केंद्र सरकार ने ताले में बंद करके रख दिया है। हिंदी संस्करण के लेखक श्री बसंत कृष्ण वैद्य (82 वर्षीय)भी केंद्र सरकार से कई बार प्रार्थना कर चुके हैं कि जैसे अंग्रेजी में लिखे गये संविधान के दो-दो संस्करण निकाले गये हैं, वैसे ही हिंदी में लिखे गए संविधान का कम-से -कम एक संस्करण निकाला जाये।

इन्हीं प्रयत्नों में पुणे के एक ज्येष्ठ नागरिक श्री नीलकंठ बापू गोडबोले (93 वर्षीय) भी जी जान से साथ दे रहे हैं। इन दोनों की मातृभाषा मराठी है, फिर भी ये विगत कई वर्षों से लगातार कोशिश में हैं कि हिंदी में लिखे गये नये संविधान की प्रतियाँ जनता को उपलब्ध करा दी जायें। यदि यह संभव न हो तो कम से कम संविधान के हर अध्याय का प्रथम पृष्ठ, जिस पर संविधान के ऐतिहासिक या सांस्कृतिक संदर्भ की ओर संकेत करने वाले चित्र हैं तथा संविधान सभा के सदस्यों के हस्ताक्षर वाले अंतिम पृष्ठ एकत्रित करके उनकी एक छोटी सी पुस्तिका ही प्रारंभ में प्रकाशित की जाये। पहले तो लोकसभा के कार्यालय ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया था, किंतु नौकरशाही और लालफीताशाही की करतूत ने इसे भी टाल दिया। कारण यह बताया गया कि उक्त हस्तलिखित संस्करण अत्यंत मूल्यवान है और इसकी छाया प्रतियाँ निकालने पर वह खराब भी हो सकता है।

यह उत्तर प्राप्त होने पर दोनों महानुभावों ने तत्कालीन विपक्ष के नेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी से संपर्क किया और इस पर अटल जी ने संसद के ग्रंथालय के संबंधित अधिकारी को पत्र लिखा कि यदि अंग्रेजी में लिखे गये संविधान के दो-दो संस्करण निकालते समय मूल प्रति में कोई खराबी नहीं आई तो हिंदी संस्करण की छायाप्रति निकालते समय वह कैसे आ सकती है। अत: संविधान के हरेक अध्याय के चित्रांकित प्रथम पृष्ठ तथा संविधान समिति के सदस्यों के हस्ताक्षर वाले अंतिम पृष्ठ की छाया प्रतियाँ कथित दोनों महानुभावों को तुरंत उपलब्ध करा दी जायें। तब कहीं उनके पास हिंदी में लिखित संविधान के 31 पृष्ठों की ही छाया प्रतियाँ भेजी गई। श्री गोडबोले की यह प्रबल इच्छा है कि अंग्रेजी के समान ही हिंदी में लिखे गये संविधान की प्रति भी किसी भी प्रकार का बहाना ढूँढे बिना शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित की जाए और आम जनता को यह हिंदी प्रति उपलब्ध करा दी जाए।

हिंदी में लिखे गए 'भारत का संविधान' की प्रति अंग्रेजी में लिखित संविधान से कहीं अधिक सुंदर और आकर्षक है। अंग्रेजी में लिखित प्रति का लेखन श्री प्रेम बिहारी नारायण रायजादा ने किया है तो हिंदी में लिखी प्रति का लेखन श्री बसंत राव वैद्य ने किया है। अंग्रेजी में लिखित प्रति के हर अध्याय के प्रारंभ में पंडित जवाहर लाल नेहरू द्वारा सुझाये गये 22 चित्र शांति निकेतन के प्रख्यात चित्रकार श्री नंदलाल बोस द्वारा चित्रित किये गये हैं जबकि हिंदी में लिखी हुई प्रति में, ये ही चित्र श्री वैद्य के ही विभाग के जानेमाने चित्रकारों द्वारा बनाये गये हैं। इन चित्रों में मोहनजोदड़ों के उत्खनन में प्राप्त मुद्रा, वैदिक आश्रम, गुरुकुल, लंका विजय के बाद श्री रामचंद्र के सीता सहित पुनरागमन, श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन का गीता के उपदेश के प्रसंग, गौतमबुद्ध, महावीर, विक्रमादित्य का दरबार, नटराज, भागीरथ के गंगावतरण, अकबर, श्री शिवाजी महाराज, गुरुगोविंद सिंह, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, महात्मा जी की दांडी यात्रा, नेताजी सुभाष चंद्र बोस आदि के चित्र हमारी संस्कृति के महान आदर्शों एवं उज्ज्वल ऐतिहासिक परंपरा के परिचायक हैं। इसके अंतिम पृष्ठों पर संविधान समिति के सभी सदस्यों के हस्ताक्षर हैं जिनमें डा. राजेंद्र प्रसाद, पंडित जवाहर लाल नेहरू, डा. बाबा साहेब आम्बेडकर, बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन, सेठ गोविंद दास आदि महान नेताओं के नाम उल्लेखनीय हैं। ये हस्ताक्षर भाषाओं एवं लिपियों में हैं। 'भारत का संविधान' की मात्र 31 जेराक्स प्रतियों से ही जब हम इतने रोमांचित हो जाते हैं तो पूरे संस्करण से किस हद तक हम आनंदित हो उठेंगे, इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

इस प्रकार विगत 60 से अधिक वर्षों में 'भारत का संविधान' की हस्तलिखित प्रति का एक भी संस्करण निकालने का प्रयास हमारी सरकार ने नहीं किया। माननीय अटल जी के पत्राचार करने पर सरकार ने केवल 31 जेराक्स प्रतियाँ करवाकर राजभाषा के प्रति अपनी कर्त्तव्य-पूर्ति का परिचय दे डाला। देश में मुश्किल से 5 प्रतिशत लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा में संविधान के दो-दो संस्करण और उन्हें खरीदने के लिए सरकारी विज्ञापन, जबकि 50 प्रतिशत जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषा में कोई संस्करण नहीं। ऐसे ही जब तक हिंदी को सही अर्थों में राजभाषा का दर्जा प्राप्त नहीं होता तब तक हमें हर दिन को हिंदी दिवस के रूप में मनाना होगा।

आजकल की पुस्तकें भी बच्चों के लिए काफी मोटी और बोझिल हैं। कई अध्यापक एवं प्राध्यापक अपनी ही लिखी स्तरहीन पुस्तकें लगवा देते हैं। हिंदी के अनेक मठाधीश हिंदी के नाम पर विदेशों का सैर-सपाटा करते हैं और हर वर्ष कई अनुदानों को हड़प जाते हैं। देश के अंग्रेजी परस्तों से कहीं ज्यादा अहित इन मठाधीशों ने किया है। कुछ लोगों का कहना है कि संस्कृतयुक्त हिंदी अत्यंत ही जटिल है। ऐसा कहने वाले क्या यह नहीं जानते कि बांग्ला और मलयालम ने तो हिंदी से भी ज्यादा शब्द संस्कृत से ही लिए हुए हैं? अंग्रेजी ने तो जर्मन, रोमन और फ्रेंच आदि भाषाओं के शब्दों को आत्मसात किया है। वहाँ भी तो राजकाज की भाषा पहले अंग्रेजी नहीं थी। उन्हें भी जब अपनी भाषा के प्रयोग की आवाज सुनाई दी तभी वे इसे अपने देश की राजभाषा बना सके।

संविधान-निर्माण में लगे इसके विधाताओं ने अंग्रेज समर्थित अफसर शाही के आगे झुकते हुए इसी संविधान में राजभाषा हिंदी को कार्यान्वित करने में बाधा पहुँचाने वाली अनेक धाराओं का निर्माण कर हिंदी के साथ छल-कपट का व्यवहार भी किया है। एक ओर तो उन्होंने संविधान के राजभाषा संबंधी 17वें अध्याय वाले अनुच्छेद 343 (1) के अनुसार देवनागरी में लिखी जाने वाली हिंदी को भारतीय संघ की राजभाषा घोषित कर दिया जबकि दूसरी ओर उन्होंने 343(2) और 343(3) के अनुसार अंग्रेजी का प्रयोग जारी रखते हुए हिंदी को प्रभावहीन बना दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने संविधान के अनुच्छेद 29 और 30 में प्रत्येक नागरिक को स्वैच्छिक भाषा के स्कूल/कॉलेज आदि शैक्षिक संस्थाओं को खोलने का मौलिक अधिकार प्रदान करके देश में भाषा की स्थिति को जान-बूझकर जटिल बना दिया।

इस प्रकार यदि हम हिंदी को सही अर्थों में राजभाषा के पद पर आसीन करना चाहते हैं तो हमें संविधान की इन धाराओं को बदल कर इस तरह लिखना होगा कि कोई भी व्यक्ति या संस्था अपनी भाषा या संस्कृति को जीवित रखने के लिए स्कूल या कॉलेज तो खोल सकती है पर उनमें या तो हिंदी माध्यम हो या हिंदी को अनिवार्य विषय बनाकर वहाँ हिंदी पाठ्यक्रम को थोड़ा उच्च स्तरीय बना दिया जाये ताकि स्कूल/कॉलेज से निकले विद्यार्थी आगे चलकर अपना काम बिना किसी दिक्कत के हिंदी में कर सकें।

संविधान के अनुच्छेद 343(1) के अनुसार देवनागरी में लिखी हिंदी भारतीय संघ की राजभाषा घोषित कर दी गई परंतु अनुच्छेद 343(2) के अनुसार इसमें भारतीय संविधान लागू होने के 15 वर्ष

बाद की अवधि तो रख दी गई परंतु फिर अनुच्छेद 343 (3) के अनुसार सरकार ने यह शक्ति भी प्राप्त कर ली कि वह इस 15 वर्ष की अवधि के बाद भी अंग्रेजी का प्रयोग सह संपर्क भाषा के रूप में जारी रख सकती है। बाद में राजभाषा अधिनियम 1963 ने सरकार के इस उद्देश्य को और भी साफ कर दिया कि अंग्रेजी की हुकूमत देश पर अनादिकाल तक बनी रहेगी। इस प्रकार संविधान में की गई 343(1) तो वरदान सिद्ध हुई पर 343(2) और 343(3) की व्यवस्थाओं ने इसके बढ़ते चरण इस प्रकार बाँध कर रख दिए कि वही वरदान अभिशाप साबित हुआ।

हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए सरकार ने अनेक प्रोत्साहन योजनाएँ चलाई हैं और इसे जन-जन से जोड़ने के लिए न केवल बम्बई में बल्कि मारिशस तक में सम्मेलन आयोजित किए हैं। किंतु क्या हम उसे उसका आत्म गौरव दे पाये। इस प्रश्न के दर्पण में झाँकने पर हमें पता चलता है कि हमारे प्रोत्साहन, प्रलोभन और योजनाएँ तब तक कारगर साबित नहीं होंगें जब तक कि हम स्वयं हिंदी को मन से नहीं अपनाते। जब तक हम इससे निजी रिश्ता नहीं जोड़ेंगे तब तक यह ऐसे ही हास-परिहास का कारण बनती रहेगी। सिनेमा हाल के पर्दे पर फूहड़ हिंदी बोलकर और सभाओं-गोष्ठियों में जटिलतम हिंदी का प्रयोग करके हम स्वयं ही इसे हास्यास्पद बनाते जा रहे हैं।

समस्त विश्व में भारत ही शायद ऐसा उदाहरण है जहाँ अपने ही देशवासियों को अपनी ही भाषा में काम करने और सिखाने के लिए अलग से बजट बनाना पड़ता है। एक सर्वेक्षण के अनुसार मात्र हिंदी-दिवस/पखवाड़े के आयोजन पर 18 करोड़ का औसतन खर्च प्रति वर्ष आता है। इसके बावजूद भी 10 प्रतिशत काम हिंदी में नहीं हो पाता। हिंदी दिवस/पखवाड़े पर सप्ताह भर या पूरे पखवाड़े के दौरान हिंदी का ढोल पीटा जाता है और सभी कार्यालयों में पूरा काम हिंदी में करने हेतु झूठे कसमें-वादे किए जाते हैं। हिंदी सप्ताह/पखवाड़ा के बाद ही उस ढोल या प्रचार प्रयास को वर्ष भर के लिए खूँटी पर टाँग दिया जाता है। भारत को छोड़िए विश्व भर में शायद ही कोई ऐसा देश होगा जो अपने ही देश वासियों को अपनी ही भाषा में काम करने के बारे में प्रतिवर्ष हिंदी सप्ताह या हिंदी पखवाड़े के आयोजन के माध्यम से याद दिलाता है। ऐसे हिंदी दिवसों का कोई लाभ नहीं जब तक कि हम स्वयं अंग्रेजी का मोह न त्यागें। जो समय और ध न देश की विकास- योजनाओं पर खर्च होना चाहिए था, वह हिंदी के प्रचार-प्रसार पर खर्च करने के बावजूद भी संतोषप्रद या अपेक्षित परिणाम नहीं मिल पाया। अंग्रेजी या अन्य भाषाओं को सीखना अच्छी बात है पर उन्हें घर की खिड़कियों के रूप में ही प्रयोग करें और कदापि उन्हें महाद्वार न बनाएँ क्योंकि हिंदी ही महाद्वार या सिंहासन की हकदारिनी है। यदि हिंदी के बढ़ते चरणों को बाँधने वाले उक्त कारणों पर हम रोक लगा दें तो देखते ही देखते यह सयानी हो जाएगी।

48/515, टाईप-4, सैक्टर 2, प्रथम तल (सीजीएस कॉलोनी) अन्टाप हिल मुम्बई-400 037 (महाराष्ट्र)

साँई बाबा से

❑ देवेन्द्र कुमार मिश्रा

मैं ही वंचित रहा/तुम्हारी कृपा से/तुमनें सबको तारा
सबको उबारा/पापी से पापी को सँभाला।
तुम सबके लिए दयावान/कृपा निधान
मेरी झोली हर बार/खाली ही रही।
मैं हर बार निराश/लौटा तुम्हारे दर से
क्या साया ही उठ गया/आपका मेरे सिर से।
मेरा क्या दोष/मेरी क्या खता ?
क्या मैं इतना गया गुजरा हूँ/क्या मैं इतना अधम हूँ
कि आप हीन समझकर/मुझ पर दृष्टि ही नहीं डाल रहे।
ऐसी बदतर, बेरंग, असफल/अपमानित, कमजोर, बेकार
जिन्दगी से भली मौत/चलो मौत ही दे दो।
माँग इतनी भी नहीं थी/कि आप पूरी न कर सके
अपनी आवश्यकताओं/के लिए माँगना क्या गुनाह है, अपराध है
फिर आपसे माँगना तो अधिकार है मेरा
क्या मेरी श्रद्धा मेरे विश्वास/का कोई मोल नहीं
फिर जमाने भर को क्यों बाँटते हो/मैं माँगता हूँ तो क्यों
निष्ठुर बन जाते हो/हे मालिक या तो जीवन दो/या मौत दो।
मौत से बदतर जीवन तो मत दो।
मेरे भगवान बहुत सह लिया/बहुत मर-मर के जी लिया।
क्या सारे दुर्भाग्य मेरे/हिस्से हैं
मेरे साँई कब तक भटकता रहूँ/कब तक लटकता रहूँ।
सहने की सीमा समाप्त/हो चुकी है।
खाली झोली लिए/आखिरी बार उम्मीद/से आया हूँ
या तो डाल दो/इस अभागे दरिद्र, असफल
कमजोर व्यक्ति की झोली में/ताकि फिर से लहलहा सकूँ
या उजाड़ दो खत्म कर दो/ये तन ये मन ये जीवन।
समझ लूँगा कि साँई से/निराश, साँई से खाली
मतलब अब कुछ नहीं/हो सकता/और करूँ मौत की प्रतीक्षा
क्योंकि तुम तो मृत्यु/देने को भी तैयार नहीं।

फूल की तरह

❑ देवेन्द्र कुमार मिश्रा

तुम सौन्दर्य के उपासक/हो या शत्रु
ये कैसा प्रेम है तुम्हारा/किसी को खुश करने के लिए
उसके चरणों में/किसी के बालों में/सजा दिया पुष्प।
फूल खिला देखा नहीं/कि बेरहमी से
तोड़ दिया किसी को/खुश करने के लिए।
फूल को खिला रहने दो/महकने दो उसकी खुशबू
भँवरों को रस पीने दो/तितलियों को मँडराने दो
आनन्द लो तुम/प्रकृति के अद्‌भुत/नजारे का।
इतनी बेरहमी से/पेश मत आओ
फूल से फूल की/तरह बर्ताव करो।

जैन हार्ट क्लीनिक के सामने, एस.ए.एफ. क्वाटर्स बाबू लाईन, परासिया रोड, छिन्दवाड़ा (म.प्र.) 480001

हिंदी संबंधी महत्त्वपूर्ण जानकारी-कलश

❑ डॉ. एन. एस. शर्मा

भाषा के लिए हिंदी शब्द का प्रयोग न तो संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश में ही कहीं मिलता है और न ही इस प्रयोजनार्थ इसे कहीं खड़ी बोली में प्रयुक्त किया गया है। मुसलमानों के भारत में पदार्पण करने के समय तक हिंदी शब्द हिंदीवासियों के लिए प्रयुक्त होता रहा है। जैसे चीन की भाषा को चीनी, रूस की भाषा को रूसी और तुर्क की भाषा को तुर्की कहते हैं वैसे ही हिंद देश की भाषा को उन्होंने हिंदी के नाम से अभिहित किया। प्रसिद्ध कवि **इकबाल** ने भी लिखा है कि **हिंदी हैं हम, वतन हैं हिंदोस्ताँ हमारा।** इसी प्रकार जब रूस के राष्ट्रपति भारत में आये थे तो उनके सम्मान में यहाँ नारे लगाये गए थे "रूसी-हिंदी भाई-भाई"। अमीर खुसरो ने भी अपनी खालिक बारी में हिंदी शब्द का प्रयोग भारतीय मुसलमानों के लिए और हिंदवी शब्द मध्य देशीय भाषा के लिए प्रयुक्त किया है जबकि ईरान में इसे जबान-ए-हिंद कहा जाता था। भाषा के लिए यहाँ भाखा शब्द का प्रयोग होता था। तुलसीदास और कबीर ने भी इसे भाखा ही कहा है जबकि केशवदास ने इसे भाषा कहा है।

यूं तो हिंदी के कुछ लक्षण सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही दिखाई पड़ने लगे थे, पर कुल मिलाकर उनका प्रतिशत इतना कम था कि 1000 ई. से पूर्व इसका उद्भव नहीं माना जा सकता। साहित्य में भाषा का प्रयोग उसके जन्म से कदापि न मानकर उसका कुछ रूप सँवर या निखर जाने पर, उसके बहुस्वीकृत हो जाने पर तथा उसके व्याकरणबद्ध हो जाने पर ही माना जाता है और साहित्यकार उसे अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है। इस प्रकार बोलचाल में तो यह लगभग आठवीं सदी से ही इस्तेमाल हो रही है पर लिखने और पढ़ने में इसका प्रयोग ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास माना गया है। इतिहासकारों ने भी पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि और पृथ्वीराज रासो के रचयिता चंद्रबरदायी को ही हिंदी का आदि कवि माना है।

यह बात अवश्य है कि अपने पुरखों से विरासत के तौर पर हमें प्राप्त हुई इस हिंदी का शुरूआती रूप इतना नियमबद्ध और मानक नहीं था, जितना कि वह आज है। इसके शैशव काल में एक ही शिरो रेखा के नीचे शब्दों के बीच तनिक भी स्थान छोड़े बिना शब्दों को एक साथ मिला-मिलाकर लिखा जाता था। अपनी मौजूदा अवस्था तक पहुँचने में अर्थात् सहस्रों वर्षों की इस सुदीर्घ अवधि में इसे उत्थानों-पतनों तथा उलझनों और विवादों भरे अनेक सोपान पार करने पड़े हैं। भले ही यह उत्तरी भारत में जन्मी हो पर सयानी तो यह दक्षिण भारत में ही हुई है। श्री के.एम. मुन्शी और श्री गोपाल स्वामी आयंगार द्वारा रखे गये प्रस्ताव पर डॉ. राजेंद्र प्रसाद की अध्यक्षता में संविधान सभा ने गहन विचार-मनन के बाद 14 सितंबर, 1949 को देवनागरी में लिखी जाने वाली हिंदी को ही संघ की राजभाषा होने का ताज पहनाया। राजभाषा बनती भी क्यों नहीं? आखिर जयमाला तो उन्हीं के गले में पड़ती है जो कांटों भरा सफर तय करते हैं। हम जानते हैं कि 18 बहनों में सबसे छोटे और लाडली होने वाली इस घुमक्कड़ हिंदी को सीमाओं में बंधे रहने की आदत पसंद नहीं, इसीलिए आज यह सात समुद्र पार कर अनेक विदेशियों के दिल में इस कदर बस गई है कि वे इसे गोल लेने को बेहद उतावले हैं। अंतर्राष्ट्रीय मंच पर पहुँच कर संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषाओं में सम्मिलित होने हेतु ही यह वहाँ घात लगाए बैठी है। इस संबंधी कुछ तथ्य निम्नानुसार हैं :

1. हिंदी भाषा का प्राचीनतम प्रयोग सातवीं सदी के अंतिम चरण में लिखित 'निशिच-चूसि' नामक ग्रंथ में मिलता है। **2.** भाषा के रूप में हिंदी शब्द का प्रयोग इब्नेबतूता द्वारा 1333 ई. में किया गया है। **3.** ईसाई प्रचारक बैंजामिल शुल्ज भारत के मद्रास नगर में आये और उन्होंने 1771 में 'ग्रामिटिका हिंदुस्तान' के नाम से देवनागरी में हिंदी व्याकरण लिखा। **4.** एडवर्ड टेरी ने 1655 में और हेनरी टॉमस कोलबुक ने 1782 में लिखा था कि जिस भाषा का प्रयोग भारत के लगभग सभी प्रांतों के शिक्षित और अशिक्षित लोग करते हैं (विशिष्टतया बोलचाल में) वह हिंदी है। **5.** हिंदी का प्रथम व्याकरण डच भाषा में हॉलैण्ड निवासी श्री जान जेशुआ कटलर ने 'हिंदुस्तानी भाषा' शीर्षक से 1685 ई. में लिखा। **6.** फोर्ट विलियम कॉलेज के प्राचार्य गिलक्राईस्ट ने 1785 में हिंदी शब्दकोश व व्याकरण लिखा था। उन्होंने अपने कॉलेज में अंग्रेजी स्टाफ के लिए हिंदी परीक्षा पास करनी अनिवार्य कर दी थी। **7.** हैरामिन लेबेडेफ 1785 में मद्रास में आये और उन्होंने यहाँ के ब्राह्मणों को गुरु बनाकर हिंदी पुस्तक लिखी। **8.** 1824 ई. में हिंदी प्राध्यापक विलियम प्राईस ने हिंदी और हिंदुस्तानी का विभेद किया था। **9.** प्रथम हिंदी समाचार पत्र 'उदंत मार्तंड' 1826 में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। **10.** रूस में हिंदी के पहले प्रचारक श्री गेरासिम लैब थे। उन्होंने 1801 ई. में रूसी-हिंदी व्याकरण प्रकाशित करवाया था। **11.** ईस्ट इंडिया कंपनी ने तो 1803 ई. में जनता से संबंधित सूचनाओं को हिंदी में परिचालित करने का आदेश देते हुए यह निर्णय लिया था कि कंपनी में या उसके अन्य संस्थानों में उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त किया जाये जो हिंदी जानते हों। हिंदी के बढ़ते चरण को देखते हुए लार्ड मैकाले ने 1835 में अंग्रेजी को यहाँ अनिवार्य कर दिया था। **12.** वारेन हेस्टिंग्स ने 1871 ई. में कलकत्ता में हिंदी मदरसे की स्थापना की थी। **13.** हिंदी व्याकरण 1876 मई में सैमुअल कैलाग (अमेरिकी) ने इलाहाबाद से प्रकाशित कराया था। **14.** हैनरी पिन कोट ने 1888 में पं. श्रीधर पाठक एवं स्वामी दयानंद सरस्वती को पत्र लिखकर हिंदी को ही राजभाषा की अधिकारिणी माना था। उन्हीं के प्रयासों के कारण ही ब्रिटिश सरकार के सैक्रेटरी ने 13.8.1881 को एक आदेश जारी करके हर आई.सी.एस. अधिकारी को हिंदी की

परीक्षा पास करना अनिवार्य कर दिया था। **15.** कलकत्ता से छपने वाले अखबार स्टेटमैन में 6.4.1889 में प्रकाशितानुसार महारानी विक्टोरिया ने भारत में प्रस्थान करने से पूर्व हिंदी सीखने हेतु भारत से एक हिंदी शिक्षक को बुलवाया था। **16.** सदर अखबार 1913 ई. में सेंट फ्रांसिस्को से लाला हरदयाल ने प्रकाशित कराया था। **17.** सर टी. विजया राघवाचारी ने 1928 ई. में हिंदी को भारतीय शिक्षा व्यवस्था में अनिवार्य बना देने पर जोर दिया था। श्री राजगोपालाचारी ने इस सुझाव को 1938 में लागू कर दिया था। **18.** 14 सितंबर 1949 को संविधान सभा ने हिंदी को संघ की राजभाषा बनाने का निर्णय लिया जो कि भारत के प्रथम गणतंत्र दिवस से अर्थात् 26 जनवरी 1950 से लागू हो गया। भारतीय संविधान के भाग-17 में अनुच्छेद 343 से 351 तक की धाराएँ इसका स्पष्ट प्रमाण हैं। **19.** आज हिंदी में लगभग 2500 अरबी, 3500 फारसी, 3000 अंग्रेजी, 1500 पुर्तगाली और स्पेनिश, 450 तुर्की और लगभग 425 पश्तो शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग हो रहा है। उक्त वर्णित शब्दों को आत्मसात करके हिंदी कमजोर नहीं हुई बल्कि इससे यह और भी समृद्ध एवं सशक्त हुई है। अंग्रेजी और जर्मन ने तो 20-20 हजार से भी अधिक विदेशी शब्द अपनाए हुए हैं। **20.** यूनेस्को द्वारा भी इसे मान्यता प्रदान की जा चुकी है जबकि मॉरिशस, सूरनाम एवं फिजी आदि में यह अनिवार्यत: पढ़ाई जाती है। ब्रिटेन, गयाना, त्रिनिदाद, नेपाल, दक्षिण अफ्रीका एवं केनिया आदि के निवासी इसे संपर्क भाषा के रूप में अपनाये हुए हैं। इसलिए विश्व के कई प्रमुख नगरों में अब तक अनेक विश्व हिंदी सम्मेलनों का आयोजन किया जा चुका है। **21.** विदेशी हिंदी प्रेमियों में डॉ. फादर कामिल बुल्के (बेल्जियम) अलेक सेई - वरात्रिकोव चर्लीसेव (रूस), लोठांर लुत्से (जर्मनी), डॉ. आर. एस. मेकेग्रेगर (इंग्लैंड), आदोलन स्मेकल (चोकोस्लोवाकिया), मरिया नैजयेशी (हंगरी), क्षेष्ट्रोक वृस्की (पोलैंड) जैसे अनेक विद्वानों का हिंदी में योगदान उल्लेखनीय है। **22.** एलमानायक बुक ऑफ फैक्टस में प्रकाशित सर्वेक्षण के अनुसार विश्व के 3.5 प्रतिशत लोग अरबी बोलते हैं, 4.9 प्रतिशत रूसी, 6.1 प्रतिशत स्पेनिश, 16 प्रतिशत अंग्रेजी जबकि 54 प्रतिशत लोग हिंदी को पढ़-लिख या समझ सकते हैं। **23.** हिंदी को विकसित करने में सभी धर्मों और जातियों का योगदान रहा है। इसका आरंभ बौद्ध, सिद्धों, चारणों, नाग-पंथियों एवं जैन मुनियों की रचनाओं से हुआ और आगे चलकर इसे जायसी आदि मुसलमान सूफियों और सिख गुरुओं ने समृद्ध किया है। **24.** भारत में बोली जाने वाली अनेक भाषाओं, प्रादेशिक भाषाओं की वर्णमाला देवनागरी में ही है। श्रीलंका में सिंहल भाषा की, नेपाल में नेपाली की, तिब्बत, बर्मा एवं थाईलैंड की भी वर्णमाला देवनागरी लिपि में ही है। **25.** शौरशैनी अपभ्रंश की बैसाखी के सहारे चल रही हिंदी ने 76 प्रतिशत तत्सम शब्द, 20 प्रतिशत तद्भव एवं शेष विदेशी शब्दों को पचा रखा है। **26.** हिंदी ऐसी पूर्ण वैज्ञानिक भाषा है जो जैसी बोली जाती है वैसी ही लिखी जाती है और जो लिखी जाती है वही पढ़ी जाती है। नये शब्द गढ़ने की जो क्षमता इसमें है वैसी विश्वभर की किसी भी भाषा में नहीं है। डॉ. रघुवीर के अनुसार हिंदी में लगभग 6 सौ धातुओं का प्रयोग होता है और एक ही धातु से लगभग 300 शब्द बनाये जा सकते हैं। मात्र करना होना, पाना और बनाना धातुओं को जान लेने से ही आदमी का काम चल सकता है। उन्हीं के अनुसार भौतिकी, रसायन, खगोल, ज्योतिष एवं शल्य-चिकित्सा विज्ञान में तो हमारे शब्द पहले से ही जावा, बाली, सुमात्रा, चीन, मंगोलिया, थाईलैंड और साइबेरिया तक फैले होने के साथ ही मध्य एशिया के ग्रंथों में देखे जा सकते हैं। **27.** डॉ. मासूम रजा का भी कथन है कि अन्य मुस्लिम देशों के प्रतिष्ठित रचनाकारों के साहित्य में हिंदी के बेशुमार शब्द नगीने की तरह दमकते हैं। अपने कलामों में उन्होंने जी खोलकर हिंदी शब्दों, मुहावरों एवं प्रतीकों का इस्तेमाल किया है। हिंदी की सेवा करने वाले मुस्लिम रचनाकारों की सूची इतनी लंबी है कि उसे कलम से व्यक्त कर पाना कठिन है। **28.** इतिहास के पन्ने साक्षी हैं कि ईरान और भारत में समान रूप से एक ही लिपि प्रचलित थी। ईरान के 396 ई. पूर्व जारी सिक्कों पर नागरी लिपि का अंकन है जिसमें एक ओर "सामंत देव" शब्द अंकित है। इसके अतिरिक्त 185 ई. पूर्व चोल सिक्कों पर 'श्री राजेंद्र' नागरी में अंकित हैं। बोर्निओ, जावा, कम्बोडिया, बर्मा, मलय और थाई आदि देशों में चौथी सदी में नागरी के शिलांकन चिह्न मिले हैं। चौथी सदी का ही नागरी में उत्कीर्ण राजा मद्र बर्मन का शिलालेख वियतनाम में मिला है। 1-2 ई. पूर्व पल्लव नरेशों के शिला लेखों में तमिल के साथ देवनागरी का अंकन किया गया है। **29.** शहाबुद्दीन ने भी 1182 में हिंदी का ही प्रयोग किया था। महमूद गजनवी ने भी जो सिक्के लाहौर में ढलवाए थे, उनके एक ओर देवनागरी में लिखा हुआ था। अलाउद्दीन के समय में भी इसे बराबर संरक्षण मिला। तुगलक एवं लोधी वंश में भी सह भाषा के रूप में यह बराबर पल्लवित होती रही। मुगल शासकों से भी इसे बराबर सम्मान मिला। अकबर के दरबारी कवि रहीम का नाम हिंदी साहित्य में मणि के समान जगमग है। हुमायूँ की बहन गुलबदन बानो बेगम, शाहजहाँ के पुत्र दारा शिकोह की एवं औरंगजेब की पुत्री जम्बुनिशा की हिंदी लेखन-कार्य में बेहद रूचि थी। शेरशाह के समय तक सिक्कों एवं मुद्राओं पर फारसी के साथ हिंदी का बराबर प्रयोग मिलता है। राजाज्ञाएँ भी उस समय हिंदी में ही प्रचारित की जाती थीं और शाही फरमान भी हिंदी में ही बोलकर सुनाए जाते थे। इस प्रकार सदियों तक यह मुसलमानों और अंग्रेजों की छत्रछाया में गूँजती रही। **30.** टीपू सुल्तान एवं हैदरअली आदि ने देवगिरि एवं गुलबर्गा आदि में इसे बराबर पकड़े रखा था। ग्वालियर के महाराजा जीवाजी एवं सिंधिया ने तो दीवान शेख गुलाम हुसैन को यह आदेश दे रखा था कि सरकारी कामकाज में फारसी का प्रयोग करने वालों को दंड दिया जाये। जयपुर के दीवान ने उर्दू के स्थान पर हिंदी का प्रयोग करने का हुक्म दिया हुआ था। **31.** उस समय प्रशासनिक एवं अंतर्राष्ट्रीय पत्राचार एवं

संधियों में तत्कालीन हिंदी का ही प्रयोग होता था। पत्रों का आरंभ अपने ईष्ट देव या कुल देवता का नाम लिखकर स्वस्तिश्री या सिद्धी सवो से होता था। दानपात्रों, शिलालेखों, सिक्कों, मुद्राओं, स्मारकों एवं पत्राचार में हिंदी का ही प्रयोग मिलता है। चित्तौड़ के नरेश समर सिंह द्वारा पृथ्वीराज चौहान को संबोधित पत्र तथा पृथ्वीराज द्वारा चित्तौड़ नरेश को लिखे गए हिंदी पत्र (विक्रमी संवत् 1229 और 1235 के) आज भी अजायबघर की काँच की अलमारियों में बंद रह कर तत्कालीन नरेशों द्वारा हिंदी में किए गए पत्राचार की यादों में खोए हुए हैं। बहमनी तथा गोलकुण्डा के बादशाहों के, मध्यप्रदेश के होल्कर, ग्वालियर सम्राटों के, शिवाजी से मरहठों व पेशवा शासकों के तथा समूचे राजस्थानी नरेशों के अनेक दस्तावेज आज भी सुरक्षित हैं।

आइए! आज हम एक संकल्प लें कि अपने पुरखों से विरासत के रूप में प्राप्त हुई इस हिंदी के धरोहर का ध्वज किसी भी कीमत पर न झुकने देंगे। यदि हम ऐसा कर सकेंगे तो इसे इसका ताज और तख्त वास्तविक रूप से प्राप्त हो जाएगा।

◗ 48/515, टाईप-4, सैक्टर 2, प्रथम तल (सीजीएस कॉलोनी), अन्टाप हिल, मुम्बई-400 037 (महाराष्ट्र)

महाकुंभ

❑ अलखनारायण झा

हरिद्वार के महाकुंभ में/जब डुबकी गंग लगाए।
तन का मैल धुले न धुले/हे मईया! मन धुल जाए।।
यही सोच महाकुंभ में आए।।
मन में कितने मैल भरे हैं/तन के ऊपर निखर न पाए।
पाप की कालिख जमी हुई है/लाख छुड़ाऊँ छूट न पाए।।
यही सोच महाकुंभ में आए।।
क्रोध की आग बुझा दे माता/ईर्ष्या–द्वेष–घृणा बह जाए।
सारी इच्छाओं के बदले मईया/सुख–संतोष हमें मिल जाए।।
यही सोच महाकुंभ में आए।।
सब रंग छूटे गंगाजल में/हर मन निर्मल बन जाए,
परहित जीवन ध्येय बने/मन में गंगा आज समाए।।
यही सोच महाकुंभ में आए।।

◗ संस्कृत उच्च विद्यालय, निर्मली, सुपौल, बिहार

बीज मंत्र

❑ राजेश रंजन कुमार

जीवन की यात्रा में/सफलता के निमित्त
मुझे नये दौर से मिले थे/दो बीज मंत्र–
आत्मविश्वास और स्पार्धा/और सफलता के सोपान
को लांघते हुए/न जाने कब
एक बारीक विभाजन रेखा धुल गई
स्पर्धा कब ईर्ष्या में/बदल गई
और तब्दील हो गया/आत्मविश्वास न जाने कब
अहंकार में सफलता की यात्रा के
दरम्यान ही।

◗ 3/1255, वसुंधरा, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश

चूजे

❑ डॉ. मणिकान्त ठाकुर

चूं चूं करते चूजे/कल यूँ ही नहीं रहेंगे
मेरी गोद में/यूँ ही नहीं
फुदकते–किलकते नजर आयेंगे/कल फैल जायेंगे
इनके पंख/जागृत हो जायेंगी/इनकी चेतनाएँ
ज्योंहि पहुँचूँगा इनके पास/पखेरू/पंख लिये उड़ जायेंगे
आज/दाने का अर्थ नहीं जानते/कल
ये ही दाने की 'इनसाइक्लोपीडिया' जान जायेंगे
आज/हम दो दाने/इनकी चोंच में/डालने को हैं उत्सुक
कल/ये दाने के पथार पर/खुद दाने चुगते
और दाने को/पैरों तले रौंदते नजर आयेंगे।

◗ डी–50, सेक्टर–9, न्यू विजय नगर, गाजियाबाद

साभार स्वीकार

1. गरीब दास (उपन्यास) सितम्बर–2007
ले.– नरेन्द्र प्रसाद यादव
पिन्टू ऑफसेट, प्रिंटिंग प्रेस, दरभंगा
2. कबीर की बानी (हाइकु शतक)
डा. रमाकान्त श्रीवास्तव (2010)
रुक्मिणी श्यामसुन्दरी स्मृति संस्थान
लखनऊ–226024
3. बउरानि कुकुरिया (काव्य संग्रह)
ओम प्रकाश 'जयन्त', अवध भारती समिति,
बाराबंकी, 2009 (उ.प्र.)
4. साधनामृत (सामूहिक काव्य संग्रह) 2009
साहित्य साधना संस्थान, बाराबंकी (उ.प्र.)
5. राकेश साहित्य का सच, डॉ. सुनीता सक्सेना
उद्योग नगर प्रकाशन, 2010, गाजियाबाद–201001
6. साहित्य–प्रोत्साहन (द्विमासिक पत्रिका),जनवरी–2010
राजेन्द्र कृष्ण श्रीवास्तव (सं.), हिंदी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

भारत के मिजाज का खेल है क्रिकेट

❑ **डॉ. स्वतंत्र कुमार जैन**

खेल भी एक विशिष्ट प्रकार की सांस्कृतिक गतिविधि है। खेलों की भी एक भौगोलिक–आर्थिक पृष्ठभूमि और उनकी एक सामाजिक–सांस्कृतिक भूमिका भी होती है। इस दृष्टि से देखें तो हम भारत में क्रिकेट को लेकर देखी जाने वाली दीवानगी को समझ सकते हैं और उन आरोपों का जवाब भी पा सकते हैं जो जाने–अनजाने क्रिकेट पर लगाए जाते हैं। क्रिकेट के लिए दीवानगी और शिकायतों के बीच इसको लेकर बहस कम ही हुई है कि भारत में क्रिकेट ऐसी कौन सी सामाजिक–सांस्कृतिक भूमिका पूरी करता है कि मैच फिक्सिंग से लेकर खिलाड़ियों के चयन में राजनीति और कमर्शलाइजेशन तक के तमाम आरोपों के बीच भी क्रिकेट खेलों का खुदा बना हुआ है?

'क्रिकेट भारत में अन्य खेलों को नहीं पनपने दे रहा है' इस तरह की आवाजें भी समाज के कई कोनों से उठती रही हैं। इस तरह के आरोप लगाने वाले कोई प्रमाण या तर्क नहीं देते हैं। संभवतः उनके आरोप क्रिकेट के प्रति होते भी नहीं हैं। वह तो जीवन के दूसरे पक्षों और अन्य खेलों की उपेक्षा की वजह से पैदा हुआ आक्रोश होता है जो कि क्रिकेट पर बरसता है। पर ईमानदारी की बात यह है कि उन्हें क्रिकेट का धन्यवाद करना चाहिए कि भारत में क्रिकेट की वजह से थोड़ा बहुत स्पोर्ट कल्चर बचा हुआ है। भारत में आखिर क्रिकेट के अलावा ऐसा कौन सा खेल है जिसे रांची से लेकर रायबरेली, बड़ौदा से लेकर मुंबई और दिल्ली से लेकर नागपुर और चेन्नई के अमीर और गरीब, किसी भी धर्म के बच्चे घर के आँगन से लेकर सड़क और पार्क से लेकर स्टेडियम तक में खेल सकते हैं ? क्रिकेट के अलावा कौन सा खे़ल है जो इन बच्चों के मनोरंजन, शारीरिक सक्रियता और सोशलाइजेशन की आवश्यकता को पूरी कर सके ? कौन सा ऐसा खेल है जिसे खेलने के लिए घर का ऊबड़–खाबड़ दो मीटर का आँगन और किसी भी लिंग और उम्र के दो लोग भी काफी हैं और उसी खेल को बीस बच्चे भी मोहल्ले की सड़क या आँगन पर भी खेल सकते हैं। वह भी बिना किसी खर्च के। इसके लिए न तो सबके हाथों में हॉकी चाहिए और न महँगी फुटबॉल, पैरों में जूते और साफ–सुथरा चकाचक मैदान। गौर करें कि क्रिकेट से पहचान, परिचय और दीवानगी यहीं से परवान चढ़नी शुरू होती है। क्रिकेट के लिए भारत सरकार ने विशेष रूप से कुछ नहीं किया है। भारत में क्रिकेट सरकार की वजह से नहीं है सरकार के बावजूद है। मीडिया और मार्केट क्रिकेट का प्रसार नहीं कर रहे हैं वरन् क्रिकेट के कारण प्रचार पा रहे हैं। आईपीएल की व्यावसायिक सफलता इसका प्रमाण है। सच तो यह है कि क्रिकेट शुरू भले ही समाज में संभ्रांत और भद्र वर्ग से हुआ हो पर आज यह एक आम आदमी का खेल बन चुका है। एक ऐसा खेल जिसे हर आम आदमी समझ, खेल सकता है और टीवी से लेकर पान की दुकान पर उसके बारे में साधिकार बात कर सकता है।

क्रिकेट की भारत में लोकप्रियता का दूसरा कारण है– इसकी धीमी रफ्तार और सामूहिकता। क्रिकेट भारत ही नहीं दुनिया के उन्हीं देशों में भी लोकप्रिय है जहाँ जीवन की चाल सुस्त या आश्वस्त है। लोगों में गलाकाट व्यक्तिवादिता नहीं है और लोगों के पास किन्हीं कारणों से इतना समय है कि वह पाँच दिन या पूरे एक दिन तक चलने वाले खेल में अपनी रुचि बनाए रख सकें। उसे देख या सुन सकें। यूरोप का एकमात्र देश जहाँ क्रिकेट लोकप्रिय है वह है इंगलैंड, जो कि पश्चिमी देशों में सर्वाधिक रूढ़िवादी और सुस्त समझा जाता है। जहाँ कभी कोई हिंसक सामाजिक या राजनीतिक क्रांति नहीं हुई। जहाँ आज भी संवैधानिक राजतंत्र है। ऐसे देशों में क्रिकेट लोगों को व्यस्त रहने का अच्छा बहाना दे देता है। कान लगाकर या आँख गड़ाकर रेडियो या टीवी सुनते/देखते रहने और सुने हुए को गुनते रहना, ये व्यस्तता क्रिकेट ही दे सकता था।

समय–समय पर अंतर्राष्ट्रीय स्पर्धाओं में भारत को मिली सफलताओं ने इस खेल की लोकप्रियता में और भी चार चाँद लगा दिए। इसने इसमें राष्ट्रवाद का वह तड़का भी लगा दिया, जिसकी एक नव स्वतंत्र राष्ट्र को भारी आवश्यकता थी। टीवी के आगमन और इसके माध्यम से इसके प्रसार (विशेषकर 1983 का वर्ल्ड कप) ने तो क्रिकेट को राष्ट्रीय गौरव का विषय बना दिया।

अब क्रिकेट सचित्र घर के बेडरूम तक दस्तक देने लगा। यहाँ आकर यह मनोरंजन से लेकर मार्केटिंग तक सभी का अभिन्न भाग बन जाता है।

पर टीवी ने क्रिकेट की एक और विशेषता उजागर की। वह यह कि क्रिकेट अद्‌भुत रूप से दर्शनीय और समझ के स्तर पर सरल खेल है। बॉलिंग, फील्डिंग, बैटिंग और विकेटकीपिंग के इतने–इतने अलग रूप क्रिकेट में टीवी क्लोज कैमरे ने दिखाए कि इसने दर्शकों को बाँध लिया। क्रीज के बाहर आकर उठाकर छक्का मारना हो या तेज आती गेंद को कैच की तरह लपकना या फिर स्पिन और तेज गेंदबाजी का अद्‌भुत नजारा– इतनी विविधता और दर्शनीयता किसी खेल में नजर नहीं आती। जिनको कभी क्रिकेट ने नहीं बाँधा था, वो भी क्रिकेट के मुरीद बनते नजर आए। टीवी के आने के बाद महिलाओं की क्रिकेट में बढ़ती रुचि का यही राज है। अब तो वे इसमें एंकरिंग भी करने लगी हैं।

टीवी से नया जीवन लेकर तो मानो क्रिकेट भारत के राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न भाग बन गया है। एक तरफ क्रिकेट के खिलाड़ियों ने राष्ट्रीय जीवन में नायकों की कमी को भरा है तो दूसरी तरफ अंतरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाओं के समय सभी उम्र, लिंग, जाति, धर्म, क्षेत्र और आय के लोगों को राष्ट्रीयता के सांस्कृतिक सूत्र में बाँधने का काम भी किया है। इसकी चरम सीमा नजर आती है– भारत और पाकिस्तान के मैच के समय।

पर पिछले सौ सालों में भारत में आमूल–चूल परिवर्तन हो चुके हैं। इस लंबी अवधि के दौरान क्रिकेट के लोकप्रिय बने रहने का कारण है कि इस खेल ने भी अपने को समय के साथ बदला है। पाँच दिवसीय से इस खेल ने अपने को एक दिवसीय खेल के रूप में बदला और अब तो समय की चाल से कदम मिलाते हुए बीस ओवरों तक सीमित कर लिया है।

कोई और ऐसा खेल नहीं है जो भारतीयों के मिजाज और जीवन दशाओं के इतने नजदीक हो। इस खेल ने भारत में खेल संस्कृति को जीवित रखा है। दूसरे खेल अगर नहीं पनप पा रहे हैं तो उसका कारण है कि उनको विकास के अवसर और संसाधन नहीं मिल रहे हैं। इसका जवाब उनको देना चाहिए जो इस देश में विकास के लिए जिम्मेदार हैं।

आवारा नहीं होता दिल

❑ अशोक सिंघई

जीने को मिला / हर एक क्षण / वस्तुतः एक शह
मृत्यु ही जिसे / दे पाये मात / जी पाता है जीवन
सिर्फ वह।
पीने को मिली / हर एक बूँद / वस्तुतः एक प्यास
पीता है जो आँसू / दूसरों के / उसी की आत्मा
दूसरी आत्मा के सामने / नहीं होती उदास
चलती ही रहती है साँस / पहुँचती नहीं कहीं
वस्तुतः बँधी रहती है वह / समय की डोर से
चलने में सूरज ही जिसे / छोड़ सके पीछे
पलट जाती है वह / किसी की पुकार से
धड़कता ही रहता है दिल / रुकता नहीं कभी
वस्तुतः रहता ही नहीं वह / अपने घर में
आवारा नहीं होता दिल / छुपा रहता है
किसी और घर में।

◗ भारतीय इस्पात प्राधिकरण लि., भिलाई, म.प्र.

ग़ज़ल

❑ आज़ाद कानपुरी

भूखी प्यासी है जनता, सहायक नहीं
कौन हक़ देगा कोई नियामक नहीं
बेईमानी ठगी छा गई विश्व में
नीति, गुण, धर्म के अब विचारक नहीं
ठेकेदारों, ठगों का ज़माना हुआ
सभ्य जनता का कोई विधायक नहीं
शांति के सत्य के ढेरों अवतार हैं
सब अदाकार हैं कोई नायक नहीं
माल कम हो तो मण्डी में दंगा मचे
माल मण्डी में आये तो ग्राहक नहीं
कैसे 'आज़ाद' खुशियाँ मनाये यहाँ
यह नया साल भी तो मुबारक नहीं।

◗ एल.आई.जी. 1144,
आवास विकास–3, कानपुर–208017

मिलन के गीत : समीक्षात्मक अध्ययन

❑ डॉ. मणिकान्त ठाकुर

'गीत', राग को यथार्थ से अनुबन्धित कर जीवन को नये सिरे से समायोजित करने की अपार चेष्टा का नाम है। 'मिलन के गीत' नामक छोटी पुस्तिका में डॉ. राजेन्द्र मिलन के मधुर गीतों का अनूठा संग्रह है। उन्होंने महाकाव्य की परंपरा का पालन करते हुए काव्य का आरंभ सरस्वती माँ की वन्दना से किया है जो माँ भारती में उनकी गहरी आस्था व श्रद्धा का परिचायक है। इनके प्रायः सभी गीत मानवीकरण अलंकार से अलंकृत अपनी प्रकृति में जीवन के विभिन्न पक्षों को उसकी व्यापकता में उदघाटित करते हैं। आज की युवा पीढ़ी जिस तनाव से गुजर रही है, जिस निरर्थकता–बोध से कुंठित हो रही है और अपने अस्तित्व को लेकर जिन शंकाओं से जूझ रही है, निश्चय ही डॉ. मिलन के गीत उनके लिए मरहम का काम करेंगे।

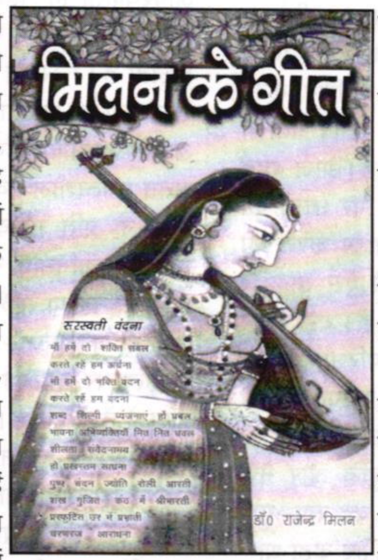

प्रकृति वर्णन के अन्तर्गत 'तुलसी का बिरवा', 'पींजर चोले से', 'सूर्य–रश्मि', 'चंदा–सूरज' आदि गीत हों या 'पावस गीत', अपने स्वतंत्र प्रकृति–चित्रण या आलम्बन चित्रण के रूप में 'मुरझाये हैं फूल' आदि गीत क्यों न हों– इससे भले ही वे प्रकृति के अनन्य कवि के रूप में सफल न हुए हों– किन्तु भावों की सहज अभिव्यक्ति द्वारा मधुर गीतिकाव्यकार के रूप में उन्हें अवश्य ही सफलता मिली है। 'पूजा का प्रतिमान' शीर्षक कविता द्वारा डॉ. मिलन ने प्रेम के प्रति अपनी गहरी आस्था को प्रतिपादित किया है अर्थात 'पूजा का प्रतिमान' अनन्य प्रेम की कविता है, जो प्रेम की अतल गहराई का चित्रण करती है। दर्द की वेदना को नये रुपकों में ढालने का प्रयास डॉ. मिलन ने 'वंशी उठा लो' शीर्षक कविता में किया है जो काव्य के क्षेत्र में उनका मौलिक प्रयोग कहा जा सकता है। उस कविता की दो पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं–

''दर्द के होकर रहो मत दर्द को बंदी बना लो
दर्द चुन लेगा मिलन के गीत लो वंशी उठा लो।''

कवि मिलन के अनुसार दर्द जीवन का सत्य है, अतः दर्द को ही यदि हम बंदी बना लें अर्थात उस पर अधिकार कर लें तो जीवन में दर्द का एहसास ही नहीं होगा। असीम करुणा व वेदना की अमर गायिका महादेवी वर्मा (तुझको पीड़ा में ढूँढ़ा/तुझमें ढूँढूँगी पीड़ा) की तरह जीवन और दर्द में साम्य स्थापित करना डॉ. मिलन का भी उद्देश्य रहा है। प्रेम में दर्द की अनुभूति न हो तो फिर प्रेम ही कैसा? और प्रेम जीवन का आधार होता है अतः जीवन में दर्द की अनुभूति का होना अमर प्रेम का परिचायक है।

'केशराशि रति छंद' कविता में रीतिकालीन कवियों की भाँति नारी के नख–शिख वर्णन की प्रधानता है। इस कविता की अन्तिम तीन पंक्तियों में जो बिंब योजना और साम्यमूलक, रूपकादि अलंकारों का प्रयोग किया गया है, वे अत्यंत मौलिक हैं। चन्द पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

''संधि तल की यज्ञभूमि में/पावन वेदी की संरचना
जंघाएं, अद्वैतवाद को/चिढ़ा रही हों गंगा–जमुना
देहयष्टि संदिग्ध समुन्दर/पृष्ठभूमि तटबंध।''

'चोर के पांव', 'उमंगे आज बागी हैं' एवं 'परिवार नियोजन' जैसी कविताओं द्वारा कवि मिलन सामाजिक विभीषिका की ओर सचेत करते प्रतीत होते हैं।

कवि डॉ. मिलन का पूरा जीवन–दर्शन उनकी कविता 'धवल पताका फहरे' आदि कविताओं में समादृत है। कवि मिलन निर्गुन भक्त कवि कबीरदास के सामाजिक दर्शन को ही अपनी उक्त कविता में पुनः स्थापित करते प्रतीत होते हैं। अतः कह सकते हैं कि कबीर का जीवन–दर्शन ही कवि मिलन का जीवन–दर्शन है।

अतः आधुनिक गीतकार डॉ. मिलन अपने मधुर गीतों के माध्यम से मानव जीवन के विभिन्न पक्षों को उसकी व्यापकता में उदघाटित करते हैं। धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, रामदरश मिश्र, रविन्द्र भ्रमर, गोपाल दास 'नीरज' आदि नवगीतकारों की परम्परा में डॉ. राजेन्द्र मिलन का बड़ा ही श्लाघनीय प्रयास है। हालाँकि वे अपने काव्य में भाषागत पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति और भाव वर्णन में रहस्यात्मकता लाने के मोह को छोड़ नहीं पाये है जिससे इनके गीतों में भावों के निर्बाध प्रवाह में रूकावट भी आई है।

पुस्तक – मिलन के गीत
लेखक – डॉ. राजेन्द्र मिलन
प्रकाशन – समानांतर, आगरा, 2004
मूल्य – 35 रुपये

◗ डी–50, सेक्टर–9, न्यूविजयनगर, गाजियाबाद, उ.प्र.

जनभाषा और राजभाषा के संदर्भ में हिंदी भाषा

❐ रामनारायण सिंह

हिंदी भाषा किसी की मुखापेक्षी नहीं है। इसका मूलाधार वेद–पुराण उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रंथ है। यह न कोई दरबारी भाषा है और न किसी पर आश्रित है। यह भी हम जानते हैं कि सत्ताधारियों से हिंदी भाषा का कल्याण भी नहीं होने वाला है।

स्वतंत्रता से पूर्व यह समूचे भारत के जनजीवन की भाषा थी। इस भाषा ने हमें जनक्रांति दी और हमें आजादी मिली। स्वंतत्रता संग्राम की भाषा के रूप में इसका स्थान शीर्ष पर था किंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इसकी दशा और दिशा बदली–बदली सी नजर आने लगी। हम वोट के लिए, कुर्सी के लिए इस भाषा के साथ दांव–पेंच मारने लगे। नतीजा सामने है। आज हिंदी उपेक्षित भाषा के रूप में है। आज बहुत सारे स्कूल ऐसे हैं जहाँ हिंदी में आवेदन देने पर छात्रों को दंड दिया जाता है तथा स्कूल से निकाल बाहर करने की चेतावनी दी जाती है। अभी देश में बहुत सारे ऐसे डाकघर हैं जहाँ से हिंदी में तार नहीं दिए जा सकते हैं। यह उधार की ली गयी हमारी दोगली संस्कृति का ही परिणाम है।

महान लेखक जार्ज वर्नार्ड शॉ के गुण पर रूपवती सुंदरी फिदा हो गई और विवाह का प्रस्ताव उनके सामने रखते हुए उसने यह तर्क पेश किया कि– ''आपकी बुद्धि और मेरी खूबसूरती के संयोग से जो संतान पैदा लेगी वह रूप–गुण संपन्न अद्भुत होगी।'' इस पर शॉ ने मुस्कुराते हुए कहा था– ''कहीं इसके ठीक विपरीत मेरी बदसूरती और तुम्हारी अक्ल का मेल बैठा तो.....।''

कहने का तात्पर्य यह है कि बेमेल संयोग से दोगली संस्कृति का जन्म होता है। कान्वेंट शिक्षा हमारे बच्चों को काफी पैसा कमाने वाला अभिमान और दर्प से भरा एक तगड़ा नौकर तो बना सकती है किंतु एक अच्छा नागरिक बनने का संस्कार नहीं दे सकती। भाषा का अपना अलग एक अमृतमय संस्कार होता है। आजादी के 62 वर्ष बाद भी हमारी हिंदी भाषा दोराहों पर खड़ी है और अंग्रेजी के वर्चस्व के आगे फीकी पड़ी है। देश में बहुत कम लोग अंग्रेजी ठीक–ठीक जानते हैं और सही–सही बोलते हैं। ज्यादा से ज्यादा लोगों की मातृभाषा हिंदी है। यहाँ तक कि गैर हिंदी भाषी लोग भी टूटी–फूटी हिंदी के माध्यम से रोजी–रोटी और व्यापार में संपर्क बनाकर अपना काम चला रहे हैं। भाषा के सवाल पर समझौता करना उचित नहीं है। हिंदी अंग्रेजी की अनुगामिनी के रुप में अनुवाद की भाषा बनकर रह गई है। गैर की भाषा में मौलिक चिंतन हो ही नहीं सकता है। हिंदी ही भारतीय मूल की विविध भाषाओं को आदर सम्मान देते हुए एकता का सूत्र स्थापित कर सकती है। इससे ही भारतीय संघ में मजबूती आयेगी और इसी में राष्ट्रीय चेतना निहित है। भारत के संविधान में प्रावधान किया गया है कि 'भारतीय संघ की राजभाषा हिंदी और लिप देवनागरी होगी।'

भाषा का संस्कार जन्म से मिलता है। मातृभाषा में ही जबान फूटती है और सोच को जन्म देती है। हमारे मनीषियों ने साहित्य, धर्म और संस्कृति को इतने व्यापक फलक पर महिमामंडित कर दिया है कि हमें कहीं दूसरी जगह जाने की आवश्यकता ही नहीं है। भाषा से ही किसी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को सुदृढ़ संस्कार, ठोस पृष्ठभूमि तथा प्राण–प्रतिष्ठा मिलती है। जिसकी अपनी राष्ट्रभाषा नहीं, बोली नहीं उसमें राष्ट्रीयता की भावना नहीं आ सकती है। इस लोकतंत्र में हमें अपनी जनभाषा हिंदी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिलाने हेतु सतत प्रयत्नशील एवं सावधान रहना पड़ेगा। जब तक अपनी भाषा के प्रति गौरव की भावना नहीं आयेगी एवं स्वयं में भाषायी स्वाभिमान नहीं जगेगा तब तक हम अंग्रेजियत से छुटकारा नहीं पा सकेंगे। आज विश्व के बहुत सारे विश्वविद्यालयों में हिंदी का पठन–पाठन चल रहा है और हिंदी भाषा एवं साहित्य पर शोध हो रहे हैं। हिंदी भाषा विश्व की चार प्रकुख भाषाओं में से एक है। यह भारतीय जन–जीवन की अभिव्यक्ति, सम्प्रेषण और चिंतन की भाषा है। इसके साथ हम कला के क्षेत्र में ही नहीं विज्ञान के क्षेत्र में भी अपना प्रमुख स्थान बना सकते हैं। इसके प्रति स्वयं में प्रबल इच्छाशक्ति तथा दृढ़ आत्मविश्वास की अत्यंत आवश्यकता है।

और अंत में–

क्या हिंद देश की प्यारी हिंदी दासी बनी रहेगी?
आजादी के 63 साल बाद भी,
गणतंत्र की गोद में बैठी यह हिंदी,
भूखी प्यासी, कृशकाय बनी हाय,
शिशु रूप, बनी मूक तमाशाइ बनी रहेगी?
क्या हिंदी देश की प्यारी हिंदी दासी बनी रहेगी?
दासी से रानी बनाना है हिंदी को,
मीठी वाणी से सजाना है हिंदी को,
भाषायी विष को शंकर बन पीना है,
हिंदी लिए मरना और हिंदी लिए जीना है।
पर देश के शूर–वीर क्या कर रहे हो?
अंग्रेजी का झंडा लिए ताल ठोक रहे हो।
बड़ी निराशा है, फिर भी कुछ आशा है,
क्या गंगा के घाट पर हिंदी प्यासी खड़ी रहेगी?
क्या हिंद देश की प्यारी हिंदी दासी बनी रहेगी?

◗ पथ सं. 2, बुद्धनगर, पोस्ल पार्क, पटना–800001

देवनागरी का सम्मान करे देश का हर इंसान

❑ डॉ. एन. एस. शर्मा

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के पन्ने साक्षी हैं कि अपने पुरखों से विरासत के तौर पर प्राप्त हुई हमारी 'देवनागरी लिपि' नामक मूल्यवान धरोहर का शुरूआती रूप इतना मानक और नियमबद्ध नहीं था, जितना कि वह आज है। अपनी इस विकसित अवस्था तक पहुँचने में उसे सहस्त्रों वर्षो की सुदीर्घ अवधि लगी है। और इसे अनेक उतार–चढ़ाव देखने पड़े हैं। हमारी स्वतंत्रता प्राप्ति तक इसे पाणिनीकालीन नाकारी की बैसाखी के सहारे ही चलना पड़ा है। कोई भी लिपि, वर्त्तनी या भाषा अपने जन्म से ही साहित्यकार द्वारा नहीं अपना ली जाती है। उसके बहु–स्वीकृत हो जाने पर उसका कुछ रंग–रूप निखर जाने पर एवं उसके व्याकरणबद्ध हो जाने पर ही साहित्यकार उसे अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है। गुप्तकालीन 417 अक्षरों/प्रतीकों वाली तत्कालीन ब्राह्मी लिपि निरंतर क्षीण और मन्द पड़ती अपना समय अशोक काल तक खींच ले गई थी, तब कहीं नागरी के पिता माने जाने वाले व्याकरणाचार्य **पाणिनी** ने उसे विभिनन कोणों से परखा और उसमें सुधार करते हुए उन्होंने अपने **'वर्णोच्चारण'**, ग्रंथ में 63 अक्षरों वाली एक ऐसी सुव्यवस्थित नागरी हमको दी कि जिसके लिए भारत सदैव उनका ऋणी रहेगा। पाणिनी के आकार–प्रकार ने उसे छाया तो खूब दी मगर चिरकाल तक उसका अनुकरणकर्त्ता कोई नहीं हुआ। अब हमारी देवनागरी सयानी होकर अपने पैरों पर खड़ी है। अब यह भारतीय सीमाओं को लाँघकर अपने विदेशी चहेतों के साथ चहल–कदमी करने लगी है।

भारतीय संविधानानुसार देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी ही संघ की राजभाषा होगी। अपने उद्‌गम और विकास में भी यह सर्वथा भारतीय है। लिपि की उत्पत्ति के बारे में कहना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार भाषा की उत्पत्ति और विकास के बारे में। वैसे भी लिपि की उत्पत्ति भाषा की उत्पत्ति के बहुत बाद में होती है। यह तो सर्वविदित है ही कि भारत एक बहुभाषी राष्ट्र है। और बहुभाषी राष्ट्र के लिये राष्ट्र–लिपि अथवा अखिल देशीय लिपि के रूप में एक लिपि भी जरूरी है। देवनागरी लिपि के रूप में इसलिये स्वीकृत हुई है कि देश में इसको जानने वालों की संख्या सर्वाधिक है और हिन्दी में प्रयुक्त सभी ध्वनियों के लिए अलग–अलग लिपि–चिह्न (अक्षर) होने से यह पूर्णतया वैज्ञानिक लिपि है। इसके साथ ही भारत में प्रयुक्त सभी लिपियों में यह सबसे सरल होने के साथ ही नेपाल सहित कई राज्यों की मातृभाषा रहते हुए संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश की भी यही लिपि रही है।

लिपियाँ तो देश–विदेश में बहुत सी विकसित हुई हैं, किन्तु सबसे पुरानी जिसका कुछ इतिहास मिलता है, ब्राह्मी लिपि कहलाती है। अक्षर ब्रह्म है तो लिपि ब्राह्मी, आदि भाषा संस्कृत है तो लिपि ब्राह्मी है जो अशोक काल तक अर्थात् लगभग तीन सौ ई. पूर्व तक चलती थी। सिन्धु घाटी की लिपि पढ़ने तथा समझने में अभी तक कोई सफलता नहीं मिली है। इसलिये अभी उस पर विचार नहीं किया जा रहा है। इस लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ने के बारे में भी कई मत हैं :– **1.** निर्माता का पता न होने से सृष्टि के निर्माता ब्रह्मा द्वारा निर्मित मानकर इसे ब्राह्मी कहा गया। चीनी विश्वकोश फा–वान–शु–लिन (668ई.) की भी यही मान्यता है। **2.** राजबली पाण्डेय के अनुसार आर्यो ने ब्रह्म (वेद) की रक्षा के लिये इसे बनाया था, अतः यह ब्राह्मी कहलाई। **3.** यह ब्राह्मणों के प्रयोग में विशेष आई थी, क्योंकि तब वे ही सुशिक्षित थे, अतः यह ब्राह्मी कहलाई।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस लिपि का विकास भारत में ही हुआ। लिपि के प्रयोग में जो कठिनाइयाँ और बाधाएँ आईं विद्वान लोग उन्हें समय–समय पर दूर करके लिपि को नियमों में बाँधते रहे और सुधारते–सँवारते रहे जिससे वे भाषा को पूर्णतया व्यक्त करने का उद्देश्य सार्थक कर सके। मानव की वाक्‌शक्ति भिन्न–भिन्न होने से वाणी भी देश–काल–भेद से बदलती रही।

लिपि में निरन्तर परिवर्तन होता गया जिसे सुधार या विकास की प्रक्रिया कहते हैं। वर्णो का स्वरूप ही नहीं, उनका क्रम, वर्गीकरण, विन्यास और संख्या–वृद्धि भी आवश्यकतानुसार सुधरती–सँवरती रही। गुप्तकाल में कौटिल्य (चाणक्य) उस काल की कूटनीति का विद्वान था। शायद इसीलिये इस लिपि का नाम कुटिल पड़ गया। इसी कुटिल लिपि से कश्मीर में "शारदा" लिपि तथा अन्यत्र नागरी या देवनागरी के रूप में विकसित हुई। प्राचीन नागरी का प्रचार उत्तरी भारत में नवीं सदी ईसवी के अन्त में हुआ जबकि दक्षिणी भारत के कुछ क्षेत्रों में यह 'नन्दी नागरी' नाम से आठवीं सदी से ही प्रयोग में आने लगी थी। उतरी और दक्षिणी भारत की समस्त लिपियाँ ब्राह्मी लिपि से ही विकसित हुई है। गुप्त काल के पूर्व ब्राह्मी लिपि देश के व्यापक भू–भाग में प्रचलित थी। गुप्तकाल में ही यह उत्तरी और दक्षिणी दो शैलियो में विभक्त हो गई थी। उत्तरी ब्राह्मी लिपि से ही आगे चलकर कुटिल लिपि का विकास हुआ जिसके

देशगत भेदों में पश्चिम में अर्द्धनागरी, पूर्व में पूर्वी नागरी, दक्षिण में नन्दी नागरी और मध्य क्षेत्र में सामान्य नागरी का विकास हुआ। इन्हीं में से नन्दी नागरी का प्रयोग विजय नगर के राजाओं के दानपात्रों में है और यह अब भी दक्षिण में संस्कृत ग्रंथों के लेखन में व्यवहृत हो रही है। सामान्य नागरी की ही विशिष्ट शैली नन्दिनागरी उत्तर–दक्षिण के बीच सेतु का कार्य करती आ रही है। जहाँ तक सिन्धु लिपि के अक्षर प्रतीकों का संबंध है वे अधिकांशतया प्राचीन ब्राह्मी के ही रूप में हैं। पाणिनी वर्णमाला तथा ब्राह्मी से विकसित लिपियाँ सम्पूर्ण भारत में तो प्रचलित हैं ही, दक्षिणी–पूर्वी एशिया तथा तिब्बत में भी प्रचलित हैं। इन लिपियों की वर्णमाला एक होते हुए भी अक्षरों में पर्याप्त भेद है।

आज विश्व में जितनी भी लिपियाँ हैं, उनमें पाँच प्रमुख हैं: **1. रोमन लिपि,** जिसका क्षेत्र पश्चिमी यूरोप, आस्ट्रेलिया और सम्पूर्ण अमेरिका है। **2. ग्रेश रोमन लिपि,** जिसका क्षेत्र पूर्वी यूरोप तथा सोवियत संघ का एशियाई भाग है। **3. चीनी लिपि,** जिसका क्षेत्र मुख्य रूप से पूर्वी एशिया है। **4. अरबी या फारसी लिपि,** जिसका क्षेत्र पश्चिमी एशिया है। **5. ब्राह्मी लिपि,** जिसका क्षेत्र भारत और दक्षिणी–पूर्वी एशिया है। भारत में प्रचलित प्रमुख प्राचीन तथा आधुनिक लिपियाँ हैं : ब्राह्मी, खरोष्ठी, गुप्त, कुटिल, शारदा, देव नागरी, तेलगु, कन्नड, कैथी, कलिंग, तमिल, बहेलुतू, मोड़ी, मलयालम, गुरूमुखी, गुजराती, मैथिली, महाजनी एवं उर्दू। देश में अँग्रेजी प्रचलित होने के कारण इसकी रोमन लिपि को भी फिलहाल इस सूची में रखा जा सकता है। इन सभी लिपियों से भारत का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में रहा है। हमारी उक्त सभी लिपियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– **प्राचीन अथवा अप्रचलित लिपियाँ** और **प्रचलित लिपियाँ**। अप्रचलित लिपियों में ब्राह्मी, खरोष्ठी, गुप्त और कुटिल लिपि को लिया जा सकता है जबकि प्रचलित लिपियों में देव नागरी, बांग्ला, तमिल एवं गुरूमुखी आदि है। अप्रचलित लिपियाँ आज की जनता से पूर्णतः दूर हैं और उनका प्रयोग आज लेखन में कोई नहीं करता। उनकी जानकारी भी मात्र कुछ लिपि विशेषज्ञों या पुरातत्व–वेत्ताओं के अलावा कदाचित और किसी को नहीं है। उनमें पुस्तकें भी नहीं छपतीं। भारतीय आर्य परम्परा की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी है, जिसका प्रयोग चौथी सदी ई. पू. से ही मिलता है। संस्कृत का आज जो भी वाड्.मय उपलब्ध है, वह सारा का सारा चौथी सदी ई. पू. के बाद का लिपिबद्ध है। उससे पूर्व लेखन की परम्परा थी या नहीं–इस बात को लेकर विवाद है। वेदों को श्रुति शायद इसलिये कहा जाता है कि ये सुने जाते थे, पढ़े नहीं जाते थे।

भारत में लिपि का इतिहास बड़ा ही रोचक है। कुछ प्राचीन नमूने, जो सिन्धु घाटी के हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों में प्राप्त मोहरों पर अंकित हैं, से यह पता चलता है कि भारत में लिखने की कला का ज्ञान काफी पहले से है। विश्व के सबसे प्राचीन ग्रंथ 'ऋग्वेद' में मिले कुछ तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस काल में भी भारतीयों को लिपि का ज्ञान था, मौर्य काल में ब्राह्मी लिपि का ज्ञान सम्पूर्ण देश को था। ब्राह्मी को भारतीय दिमाग का चमत्कार समझना चाहिये जिसमें स्वर और व्यंजनों के सुव्यवस्थित चिह्नों द्वारा वर्णमाला की सभी मूलभूत ध्वनियों का स्पष्ट विभाजन है। ब्राह्मी लिपि ही भारतीय लिपियों की जननी है। देवनागरी का स्त्रोत भी ब्राह्मी को ही माना गया है। देवनागरी की उत्पत्ति के बारे में बहुत मतभेद हैं। ऐसा माना जाता है कि देव नागरी नाम काशी नगर के नाम पर दिया गया है। इसे (काशी) संस्कृत में देवनगर भी कहते हैं। विद्वानों का मत है कि एक बार भारत की प्राकृत भाषा के प्रतिनिधि काशी नगर में एकत्र होकर भारत की एकता को बनाये रखने के लिये एक सामान्य लिपि के सम्बन्ध में विचार–विमर्श करने के दौरान देवनागरी को सामान्य लिपि के रूप में स्वीकार करने को सहमत हो गये। कुछ विद्वान इस देव नागरी का सम्बन्ध नागर ब्राह्मणों से मानते हैं उनके अनुसार जो लिपि ब्राह्मणों में प्रचलित थी, वही नागरी कहलाई है।

भाषा विचारों के आदान–प्रदान का माध्यम होती है, जिन्हें लिखित रूप में व्यक्त करने के लिये कुछ भाषा–संकेतों का सहारा लिया जाता है, जो लिपि चिह्न कहलाते हैं। उर्दू, जो एक प्रकार से हिंदी की सहोदरा है, को देव नागरी में लिखा जाये तो बड़ी सरलता होगी क्योंकि यहाँ उर्दू साहित्य देव नागरी में लोकप्रिय होता जा रहा है। देवनागरी में जो कुछ बोला जाता है वही लिखा जाता है। उसमें एक ध्वनि के लिये एक ही लिखित रूप स्वीकार किया गया है। संस्कृत, हिंदी, सिन्धी, नेपाली, मराठी तथा कोंकणी भाषाओं की लिपि देव नागरी में विश्व की सभी भाषाओं की ध्वनियों को शुद्धतम रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। नागरी में लिखित तमिल, तेलुगू या कश्मीरी भी हिन्दी जैसी ही लगेगी। नागरी लिपि को जानने वाले कुछ सीमा तक गुरूमुखी, बांग्ला तथा गुजराती पढ़ सकते हैं। सभ्यता के विकास के साथ ही दूर बसे मानव के लिये अपनी बात दूसरों तक पहुँचाने के लिये मौखिक ध्वनियों को लिखित रूप देने की आवश्यकता पड़ी और मौखिक भाषा को लिखने का क्रम शुरू हो गया। लिपि के माध्यम से हम भाषा के उच्चरित रूप को पहचान कर उसका अर्थ ग्रहण करते हैं और सम्प्रेषण का विस्तार कर सकते है। इसके द्वारा भाषा और ज्ञान का प्रचार–प्रसार होता है। अतः मानव विकास के लिये लिपि आवश्यक है। हिंदी भाषा की ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करने वाले लिपि संकेतों की व्यवस्था देवनागरी लिपि कहलाती है। सभी भाषाओं की लिपि व्यवस्था एक जैसी नहीं है। हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत, मराठी, गुजराती, नेपाली, पाली, प्राकृत आदि भाषाएँ भी देवनागरी में

लिखी जाती है। भारतवर्ष की अधिकांश लिपियों में समानता पाई जाती है। जितनी प्रगाणिकता नागरी लिपि में है, उतनी भारत तो क्या विश्व भर की किसी भी लिपि में नहीं पाई जाती। भारत में भिन्न–भिन्न भाषाएँ और बोलियाँ होने के साथ उनका उद्‌गम भी भिन्न–भिन्न होने से उनकी ध्वनियाँ भी अलग–अलग हैं। भारत की मान्यता–प्राप्त सभी भाषाओं में 52 से भी अधिक ध्वनियाँ है। राज्य–भाषाओं में कुछ ऐसी ध्वनियाँ हैं जिनके लिये देवनागरी में कोई अक्षर नहीं है। देवनागरी में थोड़ा–सा सुधार हो जाने से न केवल भारतीय भाषाओं के लिये अपितु विश्व भर की भाषाओं के लिये भी यह सम्पर्क लिपि बनने की क्षमता रखती है।

नागरी के जिस गुण पर आज विश्व मुग्ध है–वह है इसकी असीम वैज्ञानिकता। वैज्ञानिक होने का सीधा–सादा अर्थ है–लिपि का उच्चारण के अधिक अनुरूप होना। विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली चार भाषाओं में हिन्दी की लिपि देवनागरी ही सबसे अधिक वैज्ञानिक है इसलिये 150 के आसपास विश्वविद्यालयों में आज यह बड़े ही चाव से पढ़ी जा रही है। कम्प्यूटर भाषा के लिये भी आज यह आदर्श लिपि सिद्ध हो चुकी है। नागरी विश्वनागरी बनने के मार्ग पर तेजी से अग्रसर हो रही है। देश में सभी भाषाओं के लिए यदि नागरी अपना ली जाती है तो चीन और जापान सबसे पहले नागरी अपना कर आचार्य बिनोबा भावे का स्वप्न साकार कर देंगे। जब चीन और जापान में 300 से अधिक संकेतों वाली टंकण मशीनें हो सकती हैं तो फिर भारत में क्यों नहीं। अब नागरी लिपि ही बहुभाषी और बहुलिपि वाले देश की सम्पूर्ण लिपि बनने की सम्भावनाओं को अपने में समेटे हुए है। इस लिपि का महत्त्व केवल इस बात में ही नहीं है कि यह देश की राजभाषा हिंदी की मान्य लिपि है,बल्कि इस बात में भी है कि इस लिपि का प्रयोग भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत तथा मराठी एवं गुजराती के लिये भी होता है। भारत की कई अन्य लिपियाँ भी इस लिपि के बहुत निकट हैं। एक बार **आचार्य बिनोबा भावे** ने कहा था कि **हिन्दुस्तान की एकता के लिए हिन्दी भाषा जितना काम देगी, उससे बहुत अधिक काम देवनागरी लिपि करेगी। इसीलिए देश की समस्त भाषाएँ देवनागरी में ही लिखी जाये। पं. नेहरू जी** का भी विचार था कि **देवनागरी को समस्त भारतीय भाषाओं की लिपि के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये।** देश की एकता के लिए एक राष्ट्रभाषा की जितनी आवश्यकता है उतनी ही एक राष्ट्रलिपि की भी आवश्यकता है। देवनागरी में भारतीय भाषाओं की ध्वनियों को अंकित करने की अत्यधिक क्षमता है। इस लिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक ध्वनि के लिए एक ही लिपि–चिह्न है तथा एक ही लिपि–चिह्न से एक ही ध्वनि की अभिव्यक्ति होती है। यह अधिक समय और परिश्रम बचाती है। देवनागरी में महाभारत लिखने में पाँच वर्ण तथा दो मात्राएँ आती हैं। जबकि रोमन में महाभारत लिखने में ग्यारह वर्ण आते हैं।

आज भारत ही नहीं, विदेशी विद्वानों ने भी देवनागरी लिपि की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। आशुलिपि के आविष्कारक **आईजक पिटमैन** ने कहा है कि **विश्व की यदि सर्वाधिक पूर्ण लिपि है तो वह एक मात्र देवनागरी है। डा. आईजैक टेलर को नागरी के समान सुन्दर, सबल और सटीक वर्णमाला कोई भी नहीं दिखी।** उनके अनुसार वैज्ञानिकता तो इस लिपि में कूट–कूट कर भरी हुई है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अन्य भारतीय लिपियाँ की तुलना में देवनागरी ही राष्ट्रलिपि होने के लिये सभी प्रकार से उपयुक्त है। फ्रेडरिक्स जॉन शोर ने अपने अनेक लेखों में देवनागरी लिपि का तार्किकता के साथ समर्थन किया है। उन्होंने तो अंग्रेजी पुस्तकों का प्रकाशन पौररतय अर्थात लिपि देवनागरी में भी करने का सुझाव दिया। डा. जॉन वार्थविक गिलक्राईस्ट, सर चार्ल्स एडवर्ड ट्रेविलियन, जे. प्रिन्सेज टाईटलर रे व रैंड ए. डप, एफ. एस. ग्राउस ने भी देवनागरी का ही समर्थन किया है। नासा के वैज्ञानिक **'रिक ब्रिगस'** ने तो यहाँ तक कहा है कि **संस्कृत भाषा और पाणिनी का व्याकरण ही कम्प्यूटर के लिये सर्वश्रेष्ठ है।** ब्यूलर आर्नले हुष्य, मेकाशनले, थॉमस आदि ने भी नागरी लिपि की ही प्रशंसा की है। **प्रो. मोनियर विलियम** ने कहा था–**देवनागरी से बढ़कर पूर्ण और उत्तम अक्षर किसी भी अन्य लिपि के नहीं है। जॉन क्राईस्ट** ने तो यहाँ तक भी कहा है कि **मानव के मस्तिष्क से निकली हुई वर्णमालाओं में नागरी ही सबसे पूर्ण वर्णमाला है। जापानी विद्वान क्यूया दोई भी जापानी के लिये नागरी के ही पक्षधर थे।** चीन के प्रधानमंत्री **चाऊ एन. लाई** ने चीनी भाषा के लिए नागरी लिपि को ही अपनाने की संभावना के बारे में नेहरूजी से चर्चा की थी। महान विद्वान **सर विलियम जोन्स** का कथन है कि **देवनागरी विश्व भर की लिपियों की तुलना में अधिक व्यवस्थित है।** अंग्रेजी की वर्त्तनी एवं वर्णमाला बहुत ही हास्यास्पद एवं अवैज्ञानिक है। देवनागरी में संसार की किसी भी भाषा को रूपान्तरित किया जा सकता है।

भारतीय चिन्तकों में देवनागरी लिपि को सर्वजनीन लिपि बनाने की दिशा में शुरूआती विचार राजा राम मोहन राय, पं. बालकृष्ण भट्‌ट, गुरूदास बैनर्जी, पं. केशववामन पेठे, बालमुकुन्द गुप्त, श्याम सुन्दर दास, बंकिम चन्द्र चट्‌टोपाध्याय, शारदा चरण मित्र, स्वामी दयानंद सरस्वती, कृष्ण स्वामी अय्यर आदि ने देवनागरी अपनाने की अनुशंसा की थी। नागरी लिपि का महत्त्व स्पष्ट करतें हुए **राहुल सांकृत्यायन** ने भी कहा है कि **देवनागरी दुनिया की सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि**

है। **लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक** ने भी काशी नागरी प्रचारिणी सभा में 1905 में कहा था कि **जैसे स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, उसी प्रकार राष्ट्रलिपि के रूप में नागरी तथा हिंदी राष्ट्रभाषा होनी चाहिये।** यदि संविधान सभा में सर्वसम्मति से हिंदी को राजभाषा के स्थान पर राष्ट्रभाषा और नागरी लिपि को राष्ट्रलिपि स्वीकार किया गया होता तो आज हिंदी देश की एकता और अखण्डता का सक्षम माध्यम होती। **गाँधी जी** ने भी कहा था कि **विश्व की सभी लिपियों में देवनागरी ही सर्वोत्तम है।** उन्होंने 1937 में मद्रास में भी कहा था कि **एक से अधिक लिपियों को जानने का बोझा ढोना व्यर्थ है।** अब लोगों का यह कहना है कि लिपि को व्यर्थ बोझिल करना ठीक नहीं लगता। अब परिस्थितियाँ बहुत बदल चुकी है। अब केन्द्रीय हिंदी निदेशालय ने एक परिवर्धित देवनागरी विकसित कर ली है। इसमें उन सभी ध्वनियों का समावेश है जो हिंदी में नहीं हैं। किन्तु अन्य बहुत सी भाषाओं में हैं। इनसे नागरी इतनी समृद्ध हो गई है कि इसका प्रयोग संसार की किसी भी भाषा के लिए सुविधापूर्वक हो सकता है और यह सुविधा उन भाषाओं की अपनी उपलब्ध सेवाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण होगी।

उत्तर–पूर्व और दक्षिण पूर्व एशियाई देशों के साथ भी हमारा प्राचीन काल से ही सम्बन्ध था। नेपाल, चीन, सुमात्रा, जावा, इन्डोनेशिया, बाली, बल्ख, बोर्नियो, वियतनाम, म्यांमार, थाईलैंड, मंगोलिया, जापान और कोरिया तक हमारे गहन संबंध रहे हैं। बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ भारतीय दर्शन ओर साहित्य इन देशों में पहुँचा था। इन भाषाओं की शब्दावली में भारत से गये अनेक शब्द आज भी वहाँ सुरक्षित हैं। इन देशों की लिपियाँ भी भारत की प्राचीन लिपि ब्राह्मी से ही निकली है, और इनकी वर्णमाला का क्रम भी प्रायः वही है। त्रिनीडाड में पाँचवें हिंदी सम्मेलन में भी नागरी के प्रचार एवं प्रसार पर ही जोर दिया गया था। केन्द्रीय हिंदी निदेशालय का भी मुख्य उद्देश्य देवनागरी को भारतीय भाषाओं के लिप्यंतरण का सशक्त माध्यम बनाना रहा है। उसके लिये यह आवश्यक था कि देवनागरी में अन्य भाषाओं की ध्वनि के सूचक प्रतीक विकसित किये जायें (उक्त उल्लिखितानुसार) इस दिशा में निरन्तर प्रगति हो रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि शीघ्र ही देवनागरी विश्वनागरी बन जायेगी। तो आईये हम सब मिलकर अपने पुरखों द्वारा विरासत के तौर पर सौंपी गई इस मूल्यवान धरोहर में और वृद्धि करते हुए इसे प्रगति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दें ताकि यह भी अपनी बुलन्दी पर गर्व कर सके।

◗ ब्लॉक–48, फ़्लैट–515, प्रथम तल, टाईप–4, सैक्टर–2, सी.जी.एस. कॉलोनी (अन्टाप हिल) मुम्बई–400037 (महाराष्ट्र)

हकीकत

❑ शशी बुद्धिराजा

हर इंसान चाँद को छूना चाहता है/पर ऐसा हो नहीं सकता
सदियों से माँ बच्चों को सुनाती थी एक कहानी
मुझे भी याद है अच्छी तरह/बचपन में माँ के मुख से सुनी
मैंने भी वही कहानी/जिसे माँ कहती चंदा मामा की कहानी
चंदा मामा हमसे बहुत दूर हैं/फिर भी हम को दिखते हैं
माँ से किया सवाल बच्चों ने/माँ इसको पकड़ना है, छूना है
वो कैसे दिखता है, छूने में कैसा लगेगा
माँ समझाती आसान नहीं चंदा को छूना
बड़ा निष्ठुर है फिर भी देता शीतलता है
माँ रोज नित नई कहानी कहती
कल्पना उस समय मां ने की थी
बना गई हकीकत आज वो
जिसे मैंने भी गाया अपने बच्चों के लिए
बीते कल की कल्पना/वर्तमान की हकीकत बन गई
अजब गजब कहानी/कल जो चंदा मामा थे
आने की खबर देते थे हम बच्चों को
आज वो स्वयं सुनाते है उसकी कहानी
माँ की कल्पना की उड़ान/बना दी बच्चों ने हकीकत आज
कहानी को साकार किया/छू लिया चाँद जब बच्चों ने
घुमाया फोन बताया माँ को/हेलो माँ! चाँद से बोल रहा हूँ
माँ स्तब्ध रह गई/माँ की आँखों में पानी बह निकला
बोली– कैसे हो मेरे लाल/माँ ठीक हूँ मैं चाँद से बोल रहा हूँ
एक क्षण माँ रूकी, बोली पहुँच गया मेरा बच्चा
छू लिया चाँद तूने
बचपन की कल्पना को किया साकार तूने
मैं भी चाहती थी चाँद पर जाना
पर ऐसा कर न पाई/मात्र कहानी सुनती रही/सुनाती रही
अति प्रसन्न हूँ आज मैं/मेरी अधूरी कहानी पूरी कर डाली
मेरी कल्पना को किया साकार तुमने
माँ मैंने चाँद पर जगह पसंद कर ली है
जहां होगा अपना अशियाना अब चाँद पर जाना कल्पना नहीं
अब हम हकीकत में जीएँगे।

◗ बी–26, नया गोविन्दपुरा, दिल्ली–110051

पुरखों से हमें विरासत में प्राप्त हुई हिंदी

❑ कु. श्रद्धा शर्मा

अपने पूर्वजों से विरासत के तौर पर हमें प्राप्त हुई इस हिंदी का शुरूआती रूप इतना मानक और नियमबद्ध नहीं था जितना कि वह आज है। अपनी इस विकसित अवस्था तक पहुँचने में इसे सहस्त्रों वर्ष की सुदीर्घ अवधि लगी है और इसे अनेक उतार–चढ़ाव देखने पड़े हैं। इसके शैशवकाल में एक ही शिरोरेखा के नीचे तनिक भी स्थान छोड़े बिना सभी शब्दों को एक ही साथ मिला–मिला कर लिखा जाता था। अधिकांश शब्द अपभ्रंशकालीन, तुर्की, पश्तो एवं फ़ारसी के होते थे जबकि भाषा जनसामान्य की आम बोलचाल वाली ही थी। कोई भी भाषा अपने जन्म से से ही साहित्य की भाषा नहीं बन जाती। उसके बहुस्वीकृत हो जाने पर ही साहित्यकार उसे अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है। वैसे तो इसके जन्म के कुछ लक्षण पहली शताब्दी में ही दिखाई पड़ने लगे थे, पर कुल मिलाकर उनका प्रतिशत इतना कम है कि साहित्यिक दृष्टि से इसका उद्भव 11वीं शताब्दी से पूर्व नहीं माना जा सकता। इतिहासकारों ने भी पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि और पृथ्वीराज रासो के रचयिता चन्दबरदायी को ही हिंदी का आदि कवि माना है।

मध्य भारतीय आर्य भाषा के विकास का तृतीय सोपान अपभ्रंशकाल है। जिस प्रकार प्राकृत का अर्थ स्वाभाविक या पहले से ही बनी हुई भाषा है उसी प्रकार अपभ्रंश का अर्थ है जनबोली अर्थात जन सामान्य की बोली। भरत मुनि के अनुसार अपभ्रंश बोलचाल की भाषा थी। **पातंजलि** ने भी शब्द–संदर्भ में अपभ्रंश के लिये अपशब्द या म्लेच्छ की चर्चा की है। संस्कृत के वाचस्पत्य कोश में भी अपभ्रंश का अर्थ 'ग्राम्य भाषा' मिलता है। इस प्रकार अपभ्रंश का शब्दार्थ हुआ–विकृत, भ्रष्ट या अशुद्ध अर्थात जो भाषा अपने निश्चित स्थान या रूप से गिर गई हो। इस शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख **पातंजलि** द्वारा किया गया है जिन्होंने अपभ्रंश शब्द को अनेक कोणों से देखा, परखा और तिरस्कृत करते हुए उसे अपभ्रंश की पद्‌वी दे डाली। हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, विशेल, याकोबी, अल्सफोर्ड, ज्यूलब्लाल, भंडारकर एवं चटर्जी आदि देशी और विदेशी विद्वानों ने भी अपभ्रंश को देशी भाषा ही माना है। यह भाषा अपनी पूर्ववर्ती भाषाओं के योग–सहयोग का ही प्रतिफल थी जो समय पाकर इस रूप में पल्लिवत हुई। ग्यारहवीं शती तक लोक भाषा के रूप में अपभ्रंश उत्तरी भारत से दक्षिण की ओर पूर्णरूपेण स्थापित हो चुकी थी और फिर धीरे–धीरे मन्द और क्षीण पड़ती हुई यह अपना समय 16वीं शती तक खींच ले गई। नीति, धर्म एवं श्रृंगार जैसे विषयों पर इसमें पर्याप्त लिखा गया है। बंगाल से महाराष्ट्र तक यह अंगीकृत हुई जब कि उत्तरी भारत में तो प्रायः सभी कवियों ने इसे ही मान्यता प्रदान की। राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में इसका विस्तार क्षेत्र बहुत विशाल बताया है क्योंकि संस्कृत से अनभिज्ञ लोग भी इसे ही महत्व देने लगे थे।

अपभ्रंश के विविध रूपों में से ही आधुनिक भाषाएँ उद्‌भूत हुई हैं। ब्राचड़ से सिन्धी, कैकेय से लहन्दा, टक से पंजाबी, महाराष्ट्री से मराठी, शौरसेनी से गुजराती, राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी और पहाड़ी, अर्ध मागधी से पूर्वी हिंदी और मागधी से बिहारी, बांग्ला, असमी और उड़िया। इस प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश की बैसाखी पर पुरानी हिंदी चल निकली जिसे प्रारंभिक हिंदी की संज्ञा मिली। उस उत्तरकालीन अपभ्रंश का रूप हमारी पुरानी हिंदी से साम्य रखता था और यहीं से हिंदी का उद्‌गम शुरू होता है। संदेश रासक, प्रातत्तपेगलम, उक्ति–व्यक्ति प्रकरणम, वर्ण रत्नाकार और कीर्ति लता आदि में उसी हिंदी की प्रवृतियाँ झलकती हैं। इस प्रकार गुमनाम हिंदी का जन्म 9–10 वीं शती में ही हो गया था। गुलेरी जी के अनुसार जैन साहित्य में और हेम चन्द्र के प्राकृत व्याकरण तथा देसी नागमाता में भी खड़ी बोली के लक्षण हैं। गुरू गोरखनाथ के साथ ही चरपट नाथ ने भी हमें खड़ी बोली का रसपान कराया है। चन्दवरदायी ने तो अपने रासो में खड़ी बोली के उन रूपों को समोया है जो आज भी आधुनिकतम हैं। उसी समय फ़ारसी के पारंगत अमीर खुसरो के बागड़ी आकर–प्रकार ने छाया तो खूब की मगर उनका अनुकरणकर्ता कोई नहीं हुआ। तत्पश्चात् कबीर शिष्य परम्परा में यह गुंजित होती रही। अपने ऊषाकाल के दौरान यह बोली हैदराबाद, महाराष्ट्र और मैसूर में भी प्रवाहमान थी। महानुभाव पंथ ने महाराष्ट्र में इसी को स्वीकार उमाम्वा कवि ने भी इसी में डुबकी लगाई। इसी में नामदेव के गीत गूँजे और 13वीं शती में संत ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी टीका को खड़ी बोली का पुट प्रदान किया। 16 वीं शती में संत एकनाथ, संत जनार्दन, संत तुकाराम और कान्होंबा ने भी इसी बोली का सम्पुट लगाया और शिवाजी, देवदास, दवाबाई, समर्थ रामदास आदि की रचनाओं में भी यही द्रष्टव्य है।

इस प्रकार लगभग 1000 वर्ष पूर्व की गुमनाम हिंदी विगत शताब्दी तक स्पष्टरूपेण खड़ी बोली के नाम से अपना नामकरण संस्कार कराने में सफल हुई। ताराचंद के अनुसार पुराने समय से बोली जाने वाली भाषा जो दिल्ली और मेरठ के आसपास रहने वाले लोग बोलते हैं, खड़ी बोली है। जबकि रघुपति सहाय

ने इसे तद्भव या पछौंही, सुनित कुमार चटर्जी ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पूर्वी पंजाब, मध्य प्रदेश और राजस्थान के कुछ भागों की स्कूली भाषा कहा तथा डा. धीरेन्द्र वर्मा ने इस संयुक्त प्रान्त का घर होना माना है। घर की शुरुआत अर्थात घर के मुख्य प्रवेश–द्वार की चौखट को बहुधा देहली भी कहा जाता है, इसलिये अनेक विद्वान इसे हिंदी की शुरुआत मानकर इसे देहलवी का भी नाम देते हैं। ग्रियर्सन द्वारा हिंदुस्तानी, हरीशचन्द्र द्वारा खड़ी बोली और शेखवज़न तथा खुसरो द्वारा पुकारी जाने वाली देहलवी ही खड़ी बोली है। यही बोली आगे चलकर देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली राजभाषा मानी गई। यह दिल्ली, मेरठ, रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अम्बाला, कलसिया तथा पटियाला तक फैली, पर आज यह इन क्षेत्रों को पार करती हुई समस्त भारत तथा विदेशों में भारत के मूल निवासियों द्वारा शिक्षा, साहित्य और सामाजिक व्यवहार की भाषा के रूप में अपनाई जा रही है। इसके साथ अब अनेक विदेशी भी हिंदी सीखने की दिशा में आगे आए हैं।

बेनामी सम्पत्ति की भाँति यह जैन आचार्यों, सिद्धों, नागपंथियों एवं चारणों आदि की अभिव्यक्ति संपदा के रूप में प्रयुक्त होती रही है। तदंतर यह सन्त वाणी में मुखरित हुई और परवर्ती सूफियों की भाषा में अपना रस घोलती हुई रीतिकालीन रचनाओं में ब्रजभाषा के साथ भी चमकती–दमकती रही। जब ब्रज भाषा का बुढ़ापा आया तो आधुनिक हिंदी काल में काव्य भाषा के रूप में इसका बाल्यकाल प्रारंभ हुआ जो 20वीं शती तक गद्य एवं पद्य दोनों ही विधाओं की पूर्ण तरूणाई में झूम उठा। यह समय आधुनिक हिंदी का उषाकाल अर्थात पदार्पण काल था, जिसका श्रीगणेश सदासुखलाल ने सुख सागर और इंशा अल्ला खाँ ने उदयमान चरित या रानी केतकी की कहानी द्वारा किया। लल्लू लाल की कृति प्रेम सागर के संदर्भ में गिलक्राईस्ट का नाम हिंदी साहित्य के इतिहास के गद्य के जन्मदाता और उन्नायक के रूप में लिया जाता है। रीतिकालीन परम्परा की संध्या पर पूर्ववती रचनाकारों की भाँति न तो काव्यशास्त्र के ग्रंथों की रचना ही सुचारू रूप से चल रही थी और न ही कवित्व शक्ति का उतना परिपाक हो पा रहा था। रचनाओं में अवधी एवं ब्रज आदि के साथ–साथ खड़ी बोली के निखार की खड़खड़ाहट बराबर कर्णगत होती रही। अब यह ब्रज, पूर्वी हिंदी, पंजाबी, राजस्थानी और फारसी आदि से प्रभावित थी। निःसंदेह हिंदी परिवार की तत्कालीन सभी बोलियों एवं उपबोलियों ने इसे बराबर सहयोग एवं समर्थन दिया है।

तब आया भारतेन्दु युग, जो हिंदी साहित्य के आधुनिक युग का उषाकाल था। इस समय की साहित्यिक गतिविधियाँ भारतेन्दु की साहित्यिक सेवा, रूचि और सजगता की त्रिवेणी में अवगाहित थीं। उन्हें डर था कि कहीं उस समय की रचना इसी बोली की उँगली पकड़कर अरबी–फारसी का पहुँचा थामते हुए उर्दू ही न बन बैठे। इस अवधि में हिंदी की सभी बोलियों अर्थात बिहारी एवं पूर्वी हिंदी (अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मगही और मैथिली) पश्चिमी हिंदी (कौरवी, हरियाणवी, दक्खिनी, बुन्देली, ब्रजभाषा एवं कनौजी) राजस्थानी हिंदी (मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी) एवं पहाड़ी हिंदी (कुमाँऊनी एवं गढ़वाली) ने हिंदी साहित्य में हर संभव अभिवृद्धि की है और इस दौरान सहस्त्रों प्रसिद्ध रचनाएँ रची गई जिनका उल्लेख करना सम्प्रति संभव नहीं है। इस दौड़ में मुस्लिम लेखक, सिख और ईसाई भी हिन्दू लेखकों से यदि आगे नहीं थे तो पीछे भी नहीं रहे। निःसंदेह इस शती में देश में हिंदी की बिखरी सामग्री के संरक्षण और संग्रह का कार्य शुरू हुआ। साँचे विशेष में ढली ब्रज एवं अवधी आदि ने भी खड़ी बोली का विकास महसूस किया और तब उनकी स्फुट गद्य रचनाएँ भले ही सरकने लगी हों पर लेखकों ने हिंदीपन को बनाये रखने की इच्छा को बराबर मूर्त रूप देकर इस धारा को प्रवाहमय बनाये रखा। आज हिंदी में 75–80% शब्द तत्सम हैं और 19–23% तद्भव हैं जबकि शेष शब्द विदेशी हैं। विदेशी शब्दों में अधिकता है अरबी और फारसी शब्दों की। शेष शब्द अंग्रेजी, फ्रेंच, डच, तुर्की, पश्तो एवं पुर्तगाली हैं। जब से इसे संघ की राजभाषा का स्थान मिला है, इसकी शब्दावली ने तमिल, तेलुगू, उड़िया, मलयालम, कन्नड़, गुजराती, मराठी, असमी, पंजाबी, संस्कृत, कश्मीरी और बांग्ला आदि अपनी बहनों के भी अनेक शब्दों को आत्मसात किया है। इस प्रकार हिंदी हिंदू, मुस्लिम, सिख एवं ईसाई आदि सबकी भाषा है। अन्य भाषाओं के शब्दों को आत्मसात कर लेने से कोई भाषा कमजोर नहीं हो जाती बल्कि वह और सशक्त, धनी और समृद्ध हो जाती है और यही एक जीवित भाषा के लक्षण भी हैं। इस समय इसमें 3500 शब्द फारसी के, 2500 अरबी के, सैकड़ों पश्तो के, 150 तुर्की और लगभग 3500 अंग्रेजी शब्द हैं। इसके अतिरिक्त यूरोप से सम्पर्क हो जाने के कारण लगभग 1500 शब्द पुर्तगाली, स्पेनिश एवं फ्रेंच आदि के भी इसने पचा लिये हैं। इस प्रकार इसने तो लगभग दस हजार विदेशी शब्द ही अपनाये हैं जबकि अँग्रेजी और जर्मन में तो बीस–बीस हजार से भी अधिक बाहरी शब्द हैं।

हिंदी केवल कविता एवं कहानी आदि की ही भाषा नहीं है, बल्कि शतियों से यह अनेक क्षेत्रों की प्रशासनिक भाषा भी रही है। आज इसमें प्रशासन के गूढ़तम भावों को सहजता से अभिव्यक्त करने की पूरी क्षमता है। फिर भी इसके मार्ग में अनेक अवरोध खड़े किये जा रहे हैं। अँग्रेजों के चन्देक मानस

पुत्रों ने अँग्रेजी को प्रशासन और उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने का दुराग्रह अभी तक नहीं छोड़ा है। उन्हीं मुट्ठी भर लोगों की हठधर्मिता के कारण हिंदी का रथ अभी जहाँ का तहाँ रूका खड़ा है। यदि अँग्रेजी में ही काम करना था तो फिर अँग्रेजों को यहाँ से भगाने की ज़रूरत ही क्या थी। वास्तव में अँग्रेजी तो विदेशी उपज है जबकि हिंदी यहाँ की महक है। जब नीम के पेड़ नेपाल में और आम का पेड़ रूस में उगने से मना कर देता है तो हम मानव होकर उस अँग्रेजी की आरती उतारने को क्यों इतने उतावले हैं। वे विघ्नसन्तोषी व्यक्ति यदि भारत के अतीत कालीन प्रशासनिक कार्य–व्यवहार में हिंदी के प्रयोग पर सम्यक रूप से दृष्टिपात करें तो उन्हें इस बात का परिचय मिल जायेगा कि शुरूआती मुस्लिम काल से लेकर ब्रिटिश शासन काल तक हिंदी का प्रयोग प्रचुरता से होता था। 11वीं शताब्दी के बाद से ही दानपत्रों, शिल्पलेखों, सिक्कों, मुद्राओं, स्मारकों एवं पत्राचार में सर्वत्र हिंदी का प्रयोग हुआ। राजाज्ञाएँ भी हिन्दी में प्रचारित होती थी और शाही फरमान भी हिंदी में बोलकर सुनाये जाते थे। उस समय प्रशासनिक एवं अंतरराष्ट्रीय पत्राचार व संधियों में हिंदी का प्रयोग होता था। पत्रों का आरंभ अपने इष्ट देव या कुल देवता का नाम लिखकर साथ ही स्वस्तिश्री या सिद्धि सर्वोपमा से होता था। शहाबुद्दीन ने भी 1182 में हिंदी का ही प्रयोग किया था। ग्वालियर के महाराजा जीवाजी राव सिंधिया ने तो दीवान शेख गुलाम हुसैन को पत्र द्वारा यह आदेश दिया था कि सरकारी कामकाज में फारसी शब्दों का प्रयोग होने पर दंड दिया जाये। जयपुर के दीवान ने उर्दू के स्थान पर हिंदी का प्रयोग करने की आज्ञा जारी की थी। चितौड़ नरेश रावत समरसिंह द्वारा पृथ्वीराज चौहान को संबोधित पत्र तथा पृथ्वीराज द्वारा चितौड़ नरेश को लिखे गये हिंदी पत्र (विक्रमी संवत क्रमशः 1229 और 1235) आज भी अजायबघर की काँच की अलमारियों में बंद हैं। तत्कालीन सम्राटों द्वारा हिंदी पत्राचार के अनेक उदाहरण मध्यप्रदेश के होल्कर, ग्वालियर जैसे राज्यों के, मरहठों के एवं समूचे राजस्थान के अनेक दस्तावेजों में आज भी सुरक्षित है।

दक्षिण में केरल तिरूवितांकुर तथा मैसूर आदि बन्दरगाहों पर भी उतरी भारत से व्यापार–व्यवहार होने के कारण हिंदी को ही सर्वत्र अपनाते थे। वहाँ की हिंदी को तो हिंदुस्तानी कहा गया है। वहमनी तथा गोलकुण्डा के शासक अलाउद्दीन खिलजी, राजधानी परिवर्तित करने पर मुहम्मद तुगलक, टीपू सुल्तान एवं हैदर अली आदि ने दक्षिण में विशिष्टतया देवगिरी एवं गुलबर्गा आदि में खड़ी बोली को ही पकड़े रखना अपने हित में समझा। दक्षिण में दक्खिनी हिंदी के बंदानवाज, शाह मीराज़ी, शाह अली मुहम्मद, रूस्तमी शाह वुरहानुद्दीन, हाशमी, कुतुबशाह और वज़ही आदि हिंदी कवि हुए हैं। केरल के महाराज राम वर्मा ने भी सूर, तुलसी की ही तरह भक्ति छन्द लिखे हैं। राजगोपालाचारी ने तो मुख्यमंत्री बनने पर वहाँ स्कूलों में हिंदी विषय अनिवार्य ही कर दिया था। इसका विरोध करने वालों को जेल भेज देने के आदेश भी जारी करवा दिये थे। इसी प्रकार मराठा, पेशवा, होल्कर एवं सिंधिया शासन में समर्थ रामदास, शिवाजी, चक्रधर, दामोदर पंडित, ज्ञानेश्वर, नामदेव, गौन्दा, एकनाथ, कान्होवा, श्याम सुन्दर, तुकाराम वामन पंडित, अमृतराय, रंगदास, कल्याण तथा सेन्याव हुए हैं जबकि महदासिया, महादेवी, अमाई रूपाई, मुक्तावाई एवं वहिणावाई आदि प्रसिद्ध कवयित्रियाँ हुई हैं। पंजाब में गुरु नानक, गुरु गोविन्द सिंह, धर्म सिंह, दलसिंह, चन्द्रशेखर, नरेन्द्र सिंह, इन्द्रजीत सिंह, सन्तोष सिंह एवं नानक सिंह आदि सैकड़ों हिंदी के कवि हुए है। जबकि गुजरात में मालण, भावेरी, दयाराम, दलपत, ब्रह्मानंद एवं गवरी आदि ने इसी में रचनाएँ लिखी हैं। बंगाल में भी अरविंद, केशवचन्द्र सेन, सुभाष, बंकिमचन्द्र, राजनारायण बोस, योगेन्द्र नाथ बसु, अमृत चक्रवर्ती एवं राजा राम मोहन राय आदि ने हिंदी में काम करने का आह्वान किया। ऐसी ही स्थिति मध्य प्रदेश, बिहार एवं उत्तर–प्रदेश की हो चली थी। इन राज्यों के कवियों एवं लेखकों की सूची भी पर्याप्त तो इतनी लम्बी है। आदि कवि एवं साहित्यकार गोरखनाथ, विद्यापति, चन्दवरदायी, नरपति नाल्ह, ख्वाजा वन्दानवाज तथा शाह मीराजी थे जबकि भक्तिकालीन कवि जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, केशव, बिहारी, भूषण, रहीम, देव वुरहानुद्दीन, नुसरती, कुतुबशाह एवं रसखान आदि थे। इसके बाद आज तक के कवियों एवं लेखकों से तो सभी परिचित हैं। हिंदी साहित्य इन सभी लेखकों एवं कवियों का आजीवन ऋणी रहेगा। समाचारपत्रों, रेडियो, दूरदर्शन, फिल्म प्रभाग, गीत और नाटक प्रभाग, तीर्थस्थान एवं विभिन्न हिंदी अकादमियों ने भी इसके प्रचार–प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस प्रकार हमारे पूर्वजों के हिंदी कार्य नितान्त नीरस न होकर साहित्यिक और सांस्कृतिक सौंदर्य से भी भरपूर हैं। हिंदी की प्रशासनिक शब्दावली अनेक शताब्दियों से नये–नये शब्दों को ग्रहण करती रही है पर अरबी–फारसी के अनेक प्रचलित शब्द धीरे–धीरे अब विलुप्त हो गये हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रिटेन में अँग्रेजी को राजभाषा बने जितना समय हुआ है उससे अधिक अवधि तक तो हिंदी पहले ही राजभाषा रह चुकी है। आज जी–जान से हम इसे राजभाषा का दर्जा

दिलाने के लिये प्रयासरत हैं। इसे अभी भी वह सम्मान नहीं मिल पाया जिसकी यह अधिकारिणी हैं। कारण यही है कि आज भी हम इसी महारानी के हाथों से इसकी दासी अंग्रेजी के चरण धुलवा रहे हैं।

अँग्रेज भी इसमें काम करने को विवश हुए थे कि तब देश में प्रचलित सभी भाषाओं को तो वे सीख नहीं सकते थे यही एक ऐसी अखिल भारतीय भाषा थी, जिसे सीख कर पूरे भारत में वे अपना काम चला सकते थे। ईस्ट इण्डिया ने तो 1803 में जनता से संबंधित सूचनाओं को हिंदी में प्रचलित करने का आदेश दिया था। उसने तो यह भी घोषण कर दी थी कि कंपनी में या उसके अन्य संस्थापनों में उन्हीं व्यक्तियों को लिया जाये जो हिंदी जानते हैं। इस प्रकार सामान्य कार्य–व्यवहार और कामकाज के लिये देश में सर्वत्र यही भाषा प्रचलित थी। यद्यपि हिंदी भाषा के बढ़ते चरण देखकर ही इस पर लॉर्ड मैकाले द्वारा 1835 में अंकुश लगा दिये जाने और अंग्रेजी अनिवार्य कर दिये जाने के बावजूद 1950 तक यहाँ अँग्रेजी जानने वालों की संख्या मुश्किल से 3 प्रतिशत भी नहीं थी। अब हमारी हिंदी सयानी हो कर अपने पैरों पर खड़ी है।

अब यह भारतीय सीमाओं को लाँघकर नेपाल, भूटान, मलय, सूरीनाम, मारीशस, त्रिनिदाद, फिजी, इंग्लैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका, श्रीलंका, पाकिस्तान, बांग्ला देश एवं खाड़ी देशों में पहुँच चुकी है। क्योंकि देश में अंग्रेजी एवं संस्कृत को पूरे अधिकार से बोलने वाले 9 प्रतिशत से अधिक नहीं हैं तेलुगू को 9.50 प्रतिशत, बंगला को 6.3 प्रतिशत बोल सकते हैं जबकि मराठी असमियाँ एवं तमिल आदि को तो इनसे भी कम लोग बोलते हैं जबकि हिंदी को 80 प्रतिशत लोग समझ और बोल सकते हैं। 2–3 प्रतिशत लोगों द्वारा बोली जाने वाली अँग्रेजी के लिये 80 प्रतिशत हिंदी बोलने वालों की भावनाओं को दबाया नहीं जा सकता।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान एकता की कड़ी होने एवं देश में सर्वाधिक लोगों द्वारा बोली जाने के कारण ही इसे राजभाषा के पद पर स्थापित किया गया है। अब हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हमारे पूर्वजों द्वारा हमें सौंपी गई इस अमूल्य धरोहर को हम हर प्रकार से सुरक्षित रखें।

◗ C/O श्री आर. डी. गुप्ता, ब्लॉक–48, फ़्लैट–515, प्रथम तल, टाईप–4, सेक्टर–2,सी.जी.एस. कॉलोनी (अन्टाप हिल), मुम्बई–400037 (महाराष्ट्र)

बनके सरगम

❑ जयसिंह अलवरी

लब तो बस फड़फड़ाते हैं।
गीत तो दिल गाता है।
सच मानो या न मानो।
दिल का दिल से नाता है।
मत ख्यालों को ओछा करो।
दिल आँखो से दरिया बहाता है।
बनके सरगम झोंका हवा का।
बहुत कुछ कह जाता है।
सदा दौर खिजां का ही नहीं।
इक दिन बहार का भी आता है।
हुआ है दिल कमजोर यूँ।
बात–बात पे आँसू बहाता है।
हम नहीं आएँगे तेरे फरेब में।
क्यूँ तू झूठी कसम खाता है।
तड़फेगा और सिसकेगा
क्यूँ तू ये जुल्म ढहाता है।
नहा–नहा जायेगा अश्कों में।
क्यों लौट इसी राह में आता है।।

◗ दिल्ली स्वीट्, सिरुगुप्पा–583121 जिला–बल्लारी (कर्नाटक), मो.– 09886536450

इन राहों पर

❑ डॉ. सुभाष शर्मा 'समदर्शी'

कभी हम मिले थे इन राहों पर,
आज हम फिर मिले हैं इन राहों पर
आज भी मैं खड़ा हूँ इन राहों पर,
तन्हा, प्रतीक्षारत।
आज मिली भी तो पिया संग इन राहों पर,
खैर कोई गिला नहीं कोई सिकवा नहीं
हम फिर मिलेंगे इन राहों पर।
पर अफसोस उस दिन मैं न रहूँगा
मेरी लाश होगी इन राहों पर,
और तुम जीवन ढूँढोगी इन राहों पर,
पर मैं सोया निर्मम लपटों में इन राहों पर
अब विदा दो–पुनः सृजन होगा
दो सुमन खिलेंगे, कल हम फिर मिलेंगे इन राहों पर
फिर भी अगर जलना होगा युग–युग
तो आऊँगा मैं इन राहों पर।

❑ बी–144, मधु विहार, नई दिल्ली–59

प्रादेशिक स्तर पर हिंदी के क्रियान्वयन की वस्तुस्थिति

❒ सिद्धेश्वर

हिंदी भाषा समाज, देश व प्रदेश को अपने आगोश में समेटे चलायमान है। यह भूत को वर्तमान से जोड़कर सभ्यता एवं संस्कृति की झलकियाँ दिखाते हुए भविष्य का सफर तय कर रही है। हर नदी की तरह हिंदी नित्य बहती चली जा रही है।, उदार इतनी कि वह अपनी समन्दर–सी गोद में सारी छोटी–बड़ी भारतीय भाषाओं को शामिल कर लेती है और उसकी रक्षा करती है। मगर प्रादेशिक स्तर पर हिंदी के क्रियान्वयन की वस्तुस्थिति से जब हम रु–ब–रु होते हैं, तो स्थिति उतनी संतोषप्रद नहीं, जितनी होनी चाहिए। 14 सितम्बर 1949 को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हिंदी के प्रचार–प्रसार और उसके प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए प्रत्येक वर्ष हिंदी दिवस, हिंदी सप्ताह तथा हिंदी पखवाड़ा मनाने की खानापूर्ति तो केंद्र सरकार व राज्य सरकारों के प्रायः सभी विभागों द्वारा पिछले छह दशकों से की जाती रही है, मगर लोगों की मानसिकता ऐसी कि हिंदी की कमाई खाने वाले भी अँग्रेजी की दुहाई देते फिरते हैं, ताकि अंग्रेजीपरस्त समाज में उनकी प्रतिष्ठा क्षतिग्रस्त न हो।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कोई भी देश और समाज अपनी भाषा के माध्यम से ही उन्नति कर सकता है, इतिहास इसका साक्षी है। इंग्लैंड, अमरीका, ऑस्ट्रलिया, फ्रांस, रूस, जर्मनी, जापान, चीन आदि देश इसके प्रमाण हैं, किंतु भारत ही ऐसा देश है जहाँ की मातृभाषा को महत्त्व न देकर एक विदेशी भाषा अँग्रेजी को आजादी के 62 वर्षों बाद भी महत्त्व दिया जा रहा है। वस्तुतः मातृभाषाओं का भावात्मक दृष्टि से अपना महत्त्व होता है। आर्थिक–राजनीतिक जागरण के साथ–साथ मातृभाषा और राष्ट्रभाषा के प्रति भी जागरूकता पैदा होती है जिसे दबाने का प्रयास आत्मघाती होता है। तन से स्वतंत्र हो जाने के बावजूद मन से गुलाम बने रहने का संस्कार हमारा अबतक भी गया नहीं है। ब्रिटिश सरकार भारतीयों के जन–मानस में इस वहम को डालने में सफल रही कि अँग्रजी ज्ञान–विज्ञान एवं विश्व पहचान की खिड़की है। इसलिए हिंदी आज प्रादेशिक स्तर पर भी सहमी–सी, दुबकी–सी रह रही है। 60–61 वर्षों के बाद भी भारत सरकार के साथ–साथ कुछ राज्य सरकारें भी तन, मन और आचरण से अँग्रेज बनी बैठी हैं। यहाँ के लोगों का यह भ्रम दूर नहीं हो पा रहा है कि बेहतर अैर आधुनिक जीवन के लिए अँग्रेजी ज्ञान व पश्चिमी तौर–तरीके बेहद आवश्यक हैं।

सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि आजादी के 63 वर्षों के बाद भी आज इस राष्ट्र में राष्ट्रगान, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय चिह्न, राष्ट्रीय ध्वज तथा राष्ट्रीय महापुरुषों के प्रति देशवासियों का एक स्वर सुनाई नहीं दे रहा है। 'अपनी डफली अपना राग' का अलाप हो रहा है। आपने देखा नहीं कि महाराष्ट्र, असम, तमिलनाडु, कर्नाटक आदि प्रदेशों में किस तरह प्रादेशिक भाषाओं की ओट में नंगा नाच किया जा रहा है। यदि हिंदी का क्रियान्वयन होता, तो राष्ट्रीय एकता व अखण्डता पर खतरे नहीं मंडराते। दरअसल, अँग्रेज़ियत मानिकसता के लोगों को विदेशी भाषा के पालन–पोषण करने और पश्चिमी संस्कृति को प्रोत्साहित करने में तनिक भी तकलीफ नहीं होती। सांसदों एवं विधायकों के वेतन एवं सुख–सुविधाएँ बढ़ाने और स्वागत एवं शोक के अवसरों पर नेताओं में जैसी सर्वानुमति हो जाती है वैसी सर्वसम्मति राष्ट्रभाषा हिंदी, वंदेमातरम्, भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय महापुरुषों के लिए क्यों नहीं बन सकती? अपनी मातृभूमि और राष्ट्रभाषा के प्रति सम्मान और बलिदान की भावना हर नागरिक के मन में होनी चाहिए।

जहाँ तक प्रादेशिक स्तर पर हिंदी के क्रियान्वयन का संबंध है, दृश्य इतना निराशाजनक भी नहीं है। उत्तर भारत के राज्यों में तो सरकारी कामकाज अब हिंदी में होने ही लगे हैं। दक्षिण–पश्चिम भारत के राज्यों में भी संपर्क भाषा के रूप में हिंदी काम कर रही है। मुझे दक्षिण भारत के चारो राज्यों में जाने का अवसर बराबर मिलता रहा है, उनकी सभा–संगोष्ठियों को भी संबोधित कर मैं गौरवान्वित हुआ हूँ और सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि मैंने अपने भावों को राष्ट्रभाषा हिंदी में व्यक्त किया है। पिछले दिनों तिरूपति विश्वविद्यालय के कुछ विभागों के विद्यार्थियों के बीच राष्ट्रीय एकता पर जब मैंने व्याख्यान दिया, तो वे न केवल उससे आकृष्ट हुए, बल्कि व्याख्यान के अंत में विद्यार्थियों ने अपनी संतुष्टि भी जाहिर की, जबकि विद्यार्थियों में सभी तमिल, तेलुगू, मलयालम तथा कन्नड़भाषी थे। इससे इस बात का अंदाजा लगाया जा सकता है कि हिंदी का क्रियान्वयन अब दक्षिण भारत के राज्यों में भी

हो रहा है। आखिर तभी तो तमिलनाडु के मुख्यमंत्री के. करूणानिधि अपनी तमिल पुस्तकों का हिंदी रूपांतरण जोर–शोर से करा रहे हैं और चेन्नई तथा उसके आस–पास के क्षेत्रों में जहाँ हिंदीभाषियों की संख्या अधिक है वहाँ जाकर मुख्यमंत्री कहते फिर रहे हैं कि वे हिंदी विरोधी नहीं हैं। दरअसल, दक्षिण भारत के वैसे राजनेता, जो हिंदी के नाम पर वोट की राजनीति कर रहे थे उन्हें आज के दौर में यह अहसास हो गया है कि हिंदी के ज्ञान की बगैर वे राष्ट्रीय नेता नहीं बन सकते। यही नहीं मैं जहाँ कहीं भी गया, चाहे वह संगोष्ठी हो या और कोई कार्यक्रम, मैंने हिंदी में ही लोगों से बातें की और लोगों ने भी मुझसे हिंदी में ही अपने भावों को व्यक्त करना लाजिमी समझा।

वैसे हिंदी भाषी प्रदेशों में भी हिंदी की स्थिति, खासकर नौकरशाहों के बीच कम भयावह नहीं है। लोकव्यवहार में हिंदी के वर्चस्व के बावजूद उत्तर भारत के प्रायः सभी राज्यों में अँग्रेजी लगभग सबकी पसंद बन गई है। हिंदी के ज्ञाताओं को अँग्रेजी जानने वालों की तुलना में कमतर माना जाता है। हिंदी में कम्प्यूटर पर काम करने की सुविधा कार्यालयों में है, मगर इस मानसिकता के चलते राज्य सरकार व केंद्र सरकार के कार्यालयों में टंकण, गणना व विश्लेषण संबंधी ऐसे बहुसंख्य काम अँग्रेजी में होते हैं जो कम्प्यूटर क्रांति से पहले हिंदी में होते थे। फिर भी फर्जीवाड़ा का आलम यह है कि बैंकों तथा अन्य केंद्रीय कार्यालयों में हिंदी के प्रयोग का आँकड़ा बढ़ते–बढ़ते 95 से 100 प्रतिशत तक पहुँच गया है। अहिंदी भाषा–भाषी प्रदेशों में प्रादेशिक भाषा के साथ अपने प्रांत के शिक्षण संस्थानों में सीखी गई काम–चलाऊ हिंदी ही उसका सहारा बनती है। सहारा मात्र इसलिए कि हिंदी प्रदेशों में उसकी भाषा सुनकर यह समझने में देर नहीं लगती कि संबंधित व्यक्ति भारत के कौन से प्रदेश से आया है?

हिंदी का संपर्क भाषा के रूप में महत्त्व निर्विवाद है। तमिनाडु जैसे प्रदेश में भी उत्तर भारत के हिंदी क्षेत्र से आए लोग हिंदी में कार्य–व्यापार संपादित करने में पीछे नहीं हैं। सच तो यह है कि हिंदी घर से बाहर व्यवहार में लाकर ही भारतीय को संपुष्ट किया जा सकता है।

यू.–207, शकरपुर, विकास मार्ग, नई दिल्ली–110092

झुग्गी–झोपड़ी

❑ संतोष कुमार

महानगरों की शोभा / झुग्गी झोपड़ियाँ / एक प्रश्न चिन्ह
या विकास के चेहरे पर / एक चिन्ता की लकीर
केवल अख़बारों में / पढ़ने वाले करते हैं फिक्र
अमीरों के घर नहीं कोई जिक्र / धन की धाह से तपते लोग
चाँदी की तरह चमकती आँखें / सोने की खनखनाहट से
गूँजते कान / और अय्याशियों से भरे / तन–मन–प्राण
इसे भी तो चाहिए / पैर दबाने वाला / बर्त्तन माँजने वाली
जूठन उठाने वाला / और / हवस की तीव्रता को
शांत करने का साधन / रूपयों के बल पर / छल पर
तो फिर क्यों न झुग्गी / बढ़े होने का एहसास
यही कराती है / महलों का रूतबा बढ़ाती है
याचक ही नहीं रहें / तो दानी कौन ?
महल हँसते हैं / झोपड़ियाँ मौन।

आर जेड एच–940, राजनगर पार्ट–2, पालम कॉलोनी, नई दिल्ली–110045

जीवन के रंग

❑ तृप्ता शर्मा

माँ के तन की चादर ओढ़ कर
नौ माह नन्हें, हाथों को जोड़ कर
शुरू किया हम सफर सुहाना / चादर से जब, बाहर झाँका
इस दुनिया का खाला नापा / कुदरत का बस, है यह खेला।
कितना अच्छा था, वो बचपन / लड़कपन का, जोशीलापन
देखा बचपन, जवानी देखी / देखा अंतिम रूप बुढ़ापा
अंतिम रूप के रंग बिखर गये / दूर–दूर तक यूँ निखर गये।
अपनी बढ़ती, फुलबारी देखी / बच्चों की, किलकारी देखी
पूरा हो गया, सफर सुहाना / जाना है अब हमको जाना
एक संचित बूँद–सुहाना / "बुद्धि के विपरीत चले तो
विनाश काल हो जाता है।
मान के बदले इस दुनिया में / अपमान सहज हो जाता है।
जीवन का उद्देश्य बनाकर, / तू अपना निर्माण बना ले,
यूँही प्राणों की आहूति ना दो, / प्राणों का सम्मान कमाले।"

डुलत, जोर्जिया, अमेरिका।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी का स्वाभिमान

❑ सिद्धेश्वर

किसी भी देश की पहचान केवल ऊँचे पर्वतों, विशाल सागर, प्रवाहमान नदियों, तारुण्यतीर्थ तरुओं, गगनस्पर्शी भवनों, वीर नरपुंगवों से न होकर वास्तविक रूप से होती है साहित्य, भाषा, संस्कृति एवं कलात्मक दृष्टि से। इसी तरह किसी भी राष्ट्र की एकता और अखण्डता के लिए देश में एक भाषा, एक संस्कृति और एक आर्थिक प्रणाली की आवश्यकता होती है। मातृभूमि की भावना में ही राष्ट्रीय भावों को प्रोत्साहन मिलता है। यह भावना देश में पद्धति उत्पन्न करती है और विचारों को व्यावहारिक रूप देती है। भाषाओं के इतिहास के परिप्रेक्ष्य से डेढ़ सौ वर्षों की अवधि में राष्ट्रभाषा हिंदी ने अपनी विशेषताओं और योग्यताओं के बल पर स्वाभिमान का अहसास कराया है। हमें यह तथ्य विस्मृत नहीं करना चाहिए कि हिंदी की सभी बोलियाँ मिलकर एक हिंदी जातीय तंत्र का निर्माण करती हैं। हिंदी हिंदुस्तान की बोली है कहीं से लादी गई भाषा नहीं है। यह वह भाषा है जिसका साहित्य परिपूर्ण है। हिंदी क्रांति, जनजागरण, देशोत्थान की ऐतिहासिक बोली है। गुरुनानक, संत कबीर ने सामाजिक चेतनाओं को हिंदी में ही बल प्रदान किया था। रसखान ने ब्रजबिहारी की लीलाओं को गा–गाकर लोक कल्याण की भावना जगाई थी। महात्मा गाँधी ने मंच पर, पत्र–पत्रिकाओं में, सभा, प्रार्थना, प्रवचन आदि में हिंदी माध्यम से ही अपार जन–समुदाय को झंकृत किया था।

यही नहीं आजादी की लड़ाई हमने 'हिंदी और हिंदोस्तां' के नाम पर लड़ी थी। भले ही आजादी के बाद हम जैसे एकाएक पलट से गए और हिंदी की बढ़ती हुई समृद्धि तथा उपादेयता को हमने राजनीति के दीमक से चटवा दिया। दरअसल, हमारे राजनेता डरे नहीं और न ही झुके, बल्कि भाषा संबंधी विवादों से अपना पल्ला झाड़ते हुए उन्होंने उदारवादी तथा निरपेक्ष होने का ढोंग किया, कारण कि उन्हें उनके वोट की चिंता थी। फलस्वरूप अँग्रेजी आजतक फलती–फूलती हम पर लदी है। पुरानी कहावत है –'कर्ज या खैरात का पैसा आदमी के आत्मसम्मान को खा जाता है।' सच तो यह है कि इस देश के नेताओं ने जब राष्ट्रीय स्वाभिमान को ही ताक पर रख दिया है, तो उन्हें हिंदी के स्वाभिमान की फिक्र क्यों हो। आपने देखा नहीं इस देश के एक पूर्व रक्षा मंत्री के साथ अमेरिका सुरक्षा एजेंसियों द्वारा दो–दो बार अत्यंत शर्मनाक, दुर्भाग्यपूर्ण और राष्ट्रीय स्वाभिमान पर चोट पहुँचाने वाली घटना घटी जिसका खामियाजा उनको भुगतना पड़ा। क्या इससे देश के स्वाभिमान को धक्का नहीं पहुँचा और देशवासियों का सिर शर्म से नहीं झुका? इसे राष्ट्रीय स्वाभिमान के चरित्र की विडंबना ही कहा जाएगा।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के स्वाभिमान को हमें इस परिप्रेक्ष्य में समझना होगा कि राष्ट्रीय एकता में इसका बहुत बड़ा योगदान रहा, मानव की सामाजिक एवं राष्ट्रीय भावना को बढ़ाने में भी इसकी अहम भूमिका रही और देश को औपनिवेशिक दासता से मुक्ति दिलाने के लिए स्वतंत्रता–संग्राम के दौरान हमारे नेताओं, समाज–सुधारकों, कवियों, लेखकों, पत्रकारों और दार्शनिकों ने एकजुट होकर स्वभाषा, स्वदेश और स्वराज के लिए क्या कुछ नहीं किया।

राष्ट्रभाषा हिंदी का मान रखे बगैर राष्ट्र के सम्मान की कल्पना नहीं की जा सकती। राष्ट्रभाषा के प्रयोग से ही राष्ट्र का नाम गौरवशाली होगा। हिंदी भारत को एक सूत्र में जोड़ने वाली लोक भाषा है। हिंदी जानने वाले लोग आज दुनिया भर में फैले हुए हैं। प्रसार की दृष्टि से यह, दुनिया की सबसे बड़ी भाषा है। यह प्रारंभ से ही सभ्यताओं के समन्वय और सहयोग से विकसित हुई है। हिंदी की यही शक्ति है और इस शक्ति का स्रोत जनता की आकांक्षा और सपने रहे हैं। यह बात अलग है कि बदलते समय की अपेक्षाओं के अनुरूप हिंदी का परिवर्धन और संवर्धन करना होगा।

राष्ट्रभाषा हिंदी की एक विशेषता यह भी है कि हिंदी भाषा के समस्त शब्दों का ज्ञान अपने अंतःमन की तिजोरी में रखकर आप अन्य भाषाएँ जैसे तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़, बंगाली, गुजराती, मराठी एवं यहाँ तक की अरबी एवं इटालवी भाषाएँ बड़ी सुगमता से सीख सकते हैं। ऐसा कदाचित् उसके संस्कृत मूलाधार के कारण ही संभव हो सका है। इसका व्याकरण तो समस्त भाषाओं के व्याकरण की जननी है।

हिंदी भाषा को जो सौंदर्यबोध है वह रचनाकार की रचनाओं में तो झलकता ही है इसके साथ वह देश के विभिन्न भागों के विभिन्न भाषा–भाषी लोगों के साथ भी अपनी रचना को पहुँचाने में सफल रहता है। हिंदी भाषा की यही सौंदर्य चेतना है कि एक देश, जो कई भाषाओं, देशों एवं संस्कृतियों का भंडार है उसे हिंदी भाषा ने ही एक सूत्र में पिरोया है।

संपर्क भाषा व राष्ट्रभाषा होने के चलते जनमानस के संवेदन–स्पंदन से विकसित एवं निर्बाध होती है और अपने विकास के लिए शासक वर्ग की मुखापेक्षी नहीं होती है। राष्ट्रभाषा का क्षेत्र समाज के सभी वर्गों और समस्त कार्य–व्यापार, चिंतन–पद्धति का क्षेत्र है; परंतु राजभाषा विधान, शासन, न्याय आदि सरकारी तंत्र के प्रत्यक्षतः अधीन तथा सरकार द्वारा नियंत्रित शिक्षा, तकनीक एवं व्यवसाय आदि तक ही सीमित होती है।

राष्ट्रभाषा बुद्धिजीवियों के साथ–साथ अनपढ़–गँवार के बीच भी प्रसार पाती है। इस प्रकार राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी को हम पाते हैं कि यह एक समृद्ध और सरल भाषा तो है ही, इसकी देवनागरी जैसे सरल लिपि तो शायद ही कोई हो। राष्ट्रभाषा हिंदी का क्षेत्र आज व्यापक हो गया है। यह मात्र संपर्क भाषा ही नहीं, साहित्यिक भाषा और संघ की राजभाषा के साथ–साथ विश्व के मानचित्र पर भी स्थान पा गई है। यद्यपि भाषा के प्रति भावनात्मक लगाव भी जरूरी है जिसमें राष्ट्रवाद निहित है, तथापि वही भाषा जीवित रहती है जिसमें समकालीन चुनौतियों का सामना करने की सामर्थ्य हो तथा आधुनिक संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने की शक्ति हो। राष्ट्रभाषा हिंदी अपनी इन्हीं विशेषताओं के चलते राष्ट्रीय, स्थानीय तथा वैश्विक विविधताओं के बीच एक व्यावहारिक सेतु की भूमिका निभा रही है। इसी की वजह से राष्ट्रभाषा हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ में भी देर–सबेर मान्यता मिल जाएगी। आखिर सवा अरब भारतीय जनता की आवाज की उपेक्षा कबतक की जा सकेगी? चूँकि भारत की अर्थव्यवस्था तेजी से वैश्वीकृत हो रही है, भारत और विकसित राष्ट्रों के बीच नए प्रकार के राजनीतिक कूटनीतिक–सामरिक समीकरण बन रहे हैं अतः भविष्य में लंबे अर्से तक हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ से बाहर रखना बहुराष्ट्रीय आर्थिक महारथियों के लिए लाभदायक नहीं होगा।

इसमें तनिक संदेह नहीं कि राष्ट्रभाषा हिंदी झलकती है। उसमें भारतीय जीवन, संस्कृति और उस संस्कृति के साथ अंतरराष्ट्रीय संस्कृतियों के विकास की सहज ध्वनि प्रतिध्वनित होती है। यही कारण है कि विदेशों में सैकड़ों वर्षों से रह रहे भारतीय मूल के लोगों की हिंदी में भारतीयता का सही रूप आज भी देखने को मिलता है। आज हिंदी का एक अंतरराष्ट्रीय स्वरूप एवं महत्त्व है। यह हिंदी ने अपनी योग्यता द्वारा अर्जित किया है। इन सारी स्थितियों और विशेषताओं की दृष्टि से राष्ट्रभाषा के रुप में हिंदी के स्वाभिमान को अक्षुण्ण बनाए रखना हम सभी सजग एवं जागरूक रचनाकारों, पत्रकारों एवं चिंतकों–विचारकों का न केवल नैतिक दायित्व बनता है, बल्कि यह हमारा राष्ट्रीय कर्त्तव्य भी है।

हिंदी के स्वाभिमान से ही/होगा देश का सम्मान।

◗ यू–207, शकरपुर, विकास मार्ग, नई दिल्ली–92

मेरे गीत

❑ डॉ. गोरख प्रसाद 'मस्ताना'

थकी जिन्दगी टूट न जाए/मेरे गीत समझना तुम
नदी काव्य की सूख न जाए/मेरे गीत समझना तुम।
इन्द्रधनुषी सपनों को तुमसे है शत आशाएँ
मेरे सहज सजल सुर विह्वल करूणा राग में गाए
सतत् साधना छूट न जाए/मेरे गीत समझना तुम।
काँटो भरी डगर पर चलना तू ने मुझे सिखाया
अपनी लय या गति को मैंने प्रिये तुझी से पाया
स्नेह भरा घट फूट न जाए/मेरे गीत समझना तुम।
कलरव गान विहग का मोहक मन में प्रीत जगाता
अपनी रसवाणी से अन्तर्तम का तमस मिटाता
कोई यह सुख लूट न पाए/मेरे गीत समझना तुम।
उम्मीदों का पंख लगाए उड़ता रहा गगन में
शब्द मेरे विचरण करतें हैं भावों के उपवन में
सुख के ये पल रूठ न जाएँ/मेरे गीत समझना तुम।
थकी जिन्दगी टूट न जाए/मेरे गीत समझना तुम।

◗ आर जेड एच–940, राजनगर पार्ट–2, पालम कॉलोनी, नई दिल्ली–110045

क्रांतिकारी प्रत्यय 'गीरी'

❑ डॉ. गोरख प्रसाद 'मस्ताना'

हिंदी साहित्य में बहुत कुछ लिया गया। भरा गया। किसी ने गागर में सागर भरा तो किसी ने आकाश में तारा जड़ा। फिर भी महान लोगों से भी भूल होती है और उनसे भी कुछ न कुछ बाकी रह ही जाता है। विशेषकर व्याकरणाचार्यो की बात करें तो लगता है उपसर्ग प्रत्ययों का निर्माण करते–करते बीच में ही उन्हें नींद आ गयी और साहित्य के स्वप्न में गोते लगाते–लगाते उनका ध्यान भारतीय रेलवे के समय की तरह कहीं भटक गया और कुछ ऐसे प्रत्यय कागज पर नहीं उतर सके जो आज न केवल अति महत्त्वपूर्ण हैं बल्कि इन्हें ही अँग्रेजी में आइकॉन और सेलीब्रेटी कहा जा रहा है। वैसे ऐसी ही भूलों को कहने वाले ब्लन्डर कहते जो रोज ही ब्लन्डर के बवन्डर में भटक जाते हैं और साहित्यिक पुरस्कारों की सारी पूँजी गटक जाते हैं।

वैसे मैं आपका ध्यान जिस अनमोल प्रत्यय की ओर ले जाना चाहता हूँ वह है– 'गीरी' जो गति के सम्पूर्ण नियमों को धत्ता बता कर गतिशीलता की नई परिभाषा गढ़ रहा है।

बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं। बस मुफस्सिल से सचिवालय तक दृष्टि नचाएँ तो ''गीरी'' की धौंस का पता चल जाएगा, बल्कि बचे नहीं तो हाथ क्या मुँह तक जल जाएगा– वह शब्द है ''बाबूगीरी''। शब्दों की भी अपनी शक्तियाँ होती हैं और यही शब्द किसी जिन्न की तरह व्यक्ति में उतर जाय तो वह शक्तिशाली हो जाता है। वैसे भी जिसकी सुन्दर साली हो वह शक्तिवान हो ही जाता है भले ही वह 'रिवायटल' खाये या नहीं। किन्तु साफ–साफ बिना चश्मा लगाये यह भी जान लें कि शाली और साली प्रत्यय के भाव में उतना ही बड़ा फर्क है जो फर्क है स्वर्ग और नरक में।

तो मेरा कहना और आपका समझना यह है कि 'बाबूगीरी' ने कार्यालयों को भी कहाँ छोड़ा है, वो भी नरक से कम थोड़े ही रह गये हैं। बिना मुट्ठी गर्म किए, बिना चढ़ावा चढ़ाये आप कोई काम तो करा लें। अजी जब बिना प्रसाद चढ़ाये भगवान नहीं खुश होते तो इन बाबूओं की क्या बात करें और फिर बाबू के साथ ''गीरी'' प्रत्यय जो लगता है। ये बाबू लोग जितना ही बाबूगीरी दिखाएँगे उतना ही कार्यालयों के चक्कर लगवाएँगे। करते रहिए परिक्रमा इनकी कृपा से कार्यालयरूपी देवालय की क्योंकि इसके देवता तो बाबू लोग ही होते हैं।

इधर ''गीरी'' प्रत्यय का अद्भूत कमाल उतरा है गाँधी के साथ और नया शब्द बना है–गाँधीगीरी। एक क्रान्तिकारी शब्द जिसकी खोज उसी तरह हुई है जैसे बास्कोडिगामा ने अमेरिका को खोजा। और हर्ष का विषय है कि अब ''गाँधीगीरी'' ने अपनी ताकत की पहचान करानी भी शुरू कर दी है। बाबूगीरी की काट गाँधीगिरी। जब छोटे कार्यालयों से सचिवालय तक, हाकिम के आलय से देवालय तक आपका कोई कार्य अटका हो या वर्षो से रास्ता भटका हो तो बस उतर जाइये ''गाँधीगीरी'' पर। आप अखबारों के मुख्य पृष्ठ पर आ जाएँगे और वर्षों की तमन्ना का फल पा जाएँगे जैसे गाँधी जी ने अँग्रेजों को भारत से हटा दिया। गाँधीगीरी ने बाबूगीरी का मोल घटा दिया। बेशर्मी को भी शर्म की परिभाषा में लपेटने में गाँधीगीरी की सफलता हमारी सरकार की सफलता से कम नहीं जो महँगाई के मोर्चे से विदेश नीति के मोर्चे तक इतनी सफल है कि पूछिए मत। महँगाई ने जनता को नाकों चने चबबाया है और विदेश नीति भारत की जमीन चीन द्वारा हड़पवा कर भी खुशी मना रही है जैसे कोई कान में तेल डालकर सो रहा है और सारा देश रो रहा है।

वैसे ''गीरी'' प्रत्यय के निर्माण में साहित्य में क्रांति कितनी आयेगी मैं नहीं जानता क्योंकि मेरे जानने का थर्मामीटर थोड़ा कमजोर है किन्तु मैं जानता हूँ कि जनता के थर्मामीटर का पारा दुरूस्त है। वह चमचागीरी, बेलचागीरी, बाबूगीरी और जूतागीरी सबका अर्थ समझती है। सबको जनता पहचानती है तो 'गीरी' प्रत्यय का अनर्थ उपयोग करने वाले रहें सावधान! वरना जनता सबका बंटाधार कर देगी और फिर पता चल जायेगा कि अब ''गुंडागीरी या धौंसगीरी नहीं चलने वाली है क्योंकि लोगों की बुद्धिगीरी बढ़ गई है।

◗ हिंदी विभाग, राज इन्टर कॉलेज, बेतिया, प. चम्पारण–845438, बिहार (मो. 09431601682)

भारतीय भाषाओं का संस्कार

❑ डॉ. हरि सिंह पाल

भदैपां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि (ऋग्वेद 10/68/2)

भाषा मानव की सबसे बड़ी शक्ति है। यदि मानव के पास वाणी या भाषा की शक्ति न होती तो उसके आविष्कारों और उपलब्धियों का विकास और प्रसार अत्यंत सीमित रह जाता। भाषा के द्वारा मानव अपने मन के भाव प्रकट करता है। सामाजिक अंतः क्रिया में भाग लेता है। साहित्य की सृष्टि करता है। भाषा के माध्यम से ही मानव की मानवता महान है अमर है। भाषा के कारण ही मनुष्य पशु नहीं है, भाषा के कारण ही व्यक्ति का समाजीकरण हो पाता है।

भाषा मात्र सम्प्रेपण और ज्ञानवृद्धि का ही माध्यम नहीं है, वरन् यह उन सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों की वाहक भी है जो मानव सभ्यता का आधार स्तम्भ है। भारतीय संदर्भ में हमारी सभी भाषाएँ मूल्य चेतना और संरचना की प्रवृत्ति की दृष्टि से विश्व के उस बड़े भूभाग की धरोहर है जिसक संबंध एक बड़ी सांस्कृतिक और साहित्यिक सम्पदा से है। भारत एक बहुभाषी देश है। राष्ट्रीय एकता और भाषायी सामंजस्य का विचार हमारे यहाँ बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस संदर्भ में हमें यह याद करना ही होगा कि भाषा जहाँ राष्ट्रीय एकीकरण का एक महत्वपूर्ण उपकरण है, वहीं वह समाज में तनाव, विद्वेष, द्वन्द्व और विघटन की प्रवृत्ति को भी बलवती बना सकती है। भाषा की इस दोहरी संभावना को हमें सहज भाव से सावधानीपूर्वक लेना होगा जिससे यह राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया में सहायक सिद्ध हो सके।

भाषा के माध्यम से साहित्य में हमारी संस्कृति भी जुड़ी रहती है। बड़े-बड़े संतों, महात्माओं, विद्वानों, मनीषियों, चिंतकों और दार्शनिकों ने जो विचार निधि रख छोड़ी है, उससे भावी संततियों को प्रेरणा मिली। ये साहित्य और संस्कृति के ज्ञान के भंडार हैं, हमारी अमर धाती हैं। इनका स्थायी एवं शाश्वत महत्त्व है। भाषा के माध्यम से श्रुति परम्परा में होते हुए वेद आदि ग्रंथ, हमारी संस्कृति के आज तक प्रेरणाभूमि बने हुए हैं। लोकगीत, लोकगाथाएँ और लोककथाएँ अलिखित होते हुए भी हजारों वर्षों से आज भी हमारी लोकसंस्कृति के अभिन्न अंग बने हुए हैं। यह भाषा की ही देन है जो क्षेत्रीय संस्कृति के साथ राष्ट्रीय संस्कृति की भी पहचान है।

हिंदी, पिछले लगभग एक हजार वर्षों से इस महान देश की जनसंपर्क भाषा रही है। इससे पूर्व उत्तरी भारती में शौर सेनी अपभ्रंश प्रचलित थी। उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक हिंदी को, हिंदवी, दकनी, देहलवी, गूजरी, जवाने हिन्दुस्तान, दक्खिनी हिंदी, दक्खिनी उर्दू आदि अलग-अलग नामों से पुकारा जाता रहा है। हिंदी अपने उद्भव काल से ही साधु-संत, सूफी, फकीरों तथा भक्त विचारकों, तीर्थयात्रियों एवं साहित्यकारों की अभिव्यक्ति की सशक्त और समर्थ भाषा रही है। अपभ्रंश हिंदी द्वारा जैन तथा सिद्ध व नाथ पंथी साधु संतों ने अपने विचार देश के उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक फैलाकर राष्ट्रीय अखंडता को बनाए रखा था। हिंदी इस देश की सशक्त संपर्क भाषा रही है। राजमहलों से लेकर झोपड़ियों तक और राजमार्गों से लेकर वन प्रांतों तक इस देश में लोक बोली से सम्पृक्त होकर हिंदी बोली और समझी जाती रही है। मुस्लिम बादशाह, इब्राहीम लोदी, शहाबुद्दीन गौरी एवं शेरशाह सूरी के समय की मुद्राओं पर भी देवनागरी अक्षर लिखे मिले हैं (श्री हम्मीर महमूद साम तथा अमि) वर्ष 1600 ई. के पूर्व के सभी मुस्लिम कवि-कवयित्रियों (रसरगम, आलम, अकबर) ने अपनी रचनाएँ हिंदी में ही लिखीं। तब तक हिंदी के व्यवहार एवं प्रयोग में धर्म बाधक नहीं था। बाद में पेशवा, होलकर, सिंधिया आदि मराठी राजघरानों में हिंदी में ही राजकार्य होता था।

महाराष्ट्र के संत नामदेव एवं ज्ञानेश्वर, गुजरात के नरसी मेहता, असम के शंकरदेव, बंगाल के चैतन्य महाप्रभु, आंध्र प्रदेश के बल्लभाचार्य, पंजाब के गुरुनानक, बाद में महर्षि दयानंद, आचार्य केशवसेन, महात्मा गाँधी आदि ने अपने उपदेश और विचार हिंदी द्वारा ही जनसाधारण तक पहुँचाए। हैदरअली और टीपू सुल्तान इस भाषा को सुदूर केरल तक ले गए। केरल में यह भाषा 'गोसाये भाषा' (यह नाम उत्तर भारत से आने वाले संतों की भाषा के अर्थ में प्रयुक्त होता था) कहलायी। टीपू की ग्रीस के राजा के साथ जो संधि हुई थी उसमें हिंदी-हिंदवी सिखाने की शर्त भी शामिल थी। (जी गोपीनाथन, 1337 पृ. 92), यूरोपीय व्यापारियों ने भारत में आते समय यह स्वीकार कर लिया था कि यदि इसमें व्यापार या शासन करना है तो वह यहाँ की जनसंपर्क की भाषा हिंदी के माध्यम से ही सफलता पूर्वक किया जा सकता है। जब भाषा की दृष्टि से राष्ट्रीय एकता की बात करते हैं तो 'आठकोस पर पानी बदले और बारह कोस पर बानी वाले बहुरंगी देश में अद्भुत भावनात्मक एकता है। उत्तर भारत का तीर्थ यात्री

गंगोत्री से गंगाजल लेकर रामेश्वरम् पहुँचता है, या केरल का नम्बूदरी पुजारी काठमांडू में अभिषेक कराता है तो कहीं भी भाषायी वैभिन्नता का आभास तक नहीं होता। जितनी भी भारत की भाषाएँ हैं, सबमें परस्पर संबंध है– किसी में लिपिगत, किसी में शब्द भंडार के अदान–प्रदान के कारण, किसी में वैचारिक सभ्यता के कारण। हमारी धार्मिक भावना भी इस भाषायी आदान–प्रदान में सहायक रही है। इसी धार्मिक एकता का प्रतिफलन हमारे साहित्य में प्रतिध्वनित हुआ। कृष्ण की पुजारिन राजस्थान की मीरा है तो दक्षिण की आंडालेभी, दोनों का साहित्य हमारा गौरव है। जब सूरदास ब्रज में रहकर 'सूरसागर' रच रहे थे तो कर्नाटक के संत कनकदास भी वंशी वाले के ही भजन गा रहे थे। ये सांस्कृतिक और साहित्यिक संदेश एक अंचल से दूसरे अंचल तक प्रसारित होते रहे हैं। ये ही भाषायी एकता के तत्त्व हैं।

भाषा की अपनी अद्‌भुत क्षमता और सत्ता होती है। सत्ताधारी के साथ–साथ उसकी भाषा भी राज करती है। यह शासितों को शासकों की भाषा से जुड़ने को विवश करती है। फारसी और अँग्रेजी भारत में इसके प्रत्यक्ष उदाहरण रहे हैं। अंग्रेजों ने तो समस्त भारतीय प्राचीन ग्रंथों का अँग्रेजी में अनुवाद करवा लिया और युवा पीढ़ी को अपने धार्मिक ग्रंथ और इतिहास अंग्रेजी में पढ़ने को विवश होना पड़ा। सत्ता बदलते ही भाषा बदल जाती है और भाषा के साथ संस्कृति तो जुड़ी है ही। भाषा और संस्कृति बदलते ही इतिहास भी बदल जाता है। भाषा ही वह शक्ति है जो सभ्यता और संस्कृति को परस्पर जोड़ती है। अँग्रेज़ी शासकों ने भारतीयों में अँग्रेज़ी और अँग्रेज़ियत इस तरह भर दी कि हम अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता का महत्व और उसकी अस्मिता ही भूल गए। हमने अँग्रेजी ग्रंथों को ही प्रमाणिक मान लिया। यह दुर्भाग्य है कि देश में अँग्रेज़ी का नहीं राजभाषा के नाम पर हिंदी का विरोध होता है। अँग्रेजी के भूत से सिर्फ हिंदी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाएँ तक आतंकित हैं।

लोक भाषाओं और लोक साहित्य इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। उत्तर के बीरबल और दक्षिण के तेनालीराम समस्त भारत के बच्चों में लोकप्रिय क्यों हैं? इस आदान–प्रदान के बलबूते साहित्य के साथ–साथ संस्कृति का भी आदान–प्रदान और समन्वय होगा। यही राष्ट्रीय एकता का सेतु बनेगा। आज आवश्यकता है तो हमारी अपनी इच्छा शक्ति और प्रतिबद्धता की। चाहे वह राजनैतिक स्तर पर हो या व्यक्तिगत स्तर पर। हमें अब तो शुरूआत करनी ही पड़ेगी।

684, इन्द्रापार्क, नई दिल्ली–45

मेरे शून्य आकाश

❑ नित्यानंद गायेन

मेरे शून्य आकाश को भरने की / तमन्ना है अब मेरे दिल में
अपनी योग्यता को / जाँचने की तमन्ना है अब दिल में।
मेरा आकाश शून्य है / किन्तु जड़ा है तारों से
एक चाँद है / मेरे आकाश में
देवताओं ने रिक्त कर दिया है मेरा आकाश
उनका स्वर्ग अब बदल चुका है
अब वे शहरों के आलीशान मंदिरों में बसते हैं
मेरे शून्य आकाश की / असीमित सीमाओं के परे
रहते हैं जो / उनको मेरा आमंत्रण / आकर बस जाओ
मेरे शून्य आकाश में / यहाँ तुम्हें / भय न होगा
किसी दल या नेता का / कोई नहीं जलाएगा
तुम्हारा घर यहाँ / कोई नहीं बाँटेगा तुम्हें यहाँ
भाषा, धर्म और जाति के नाम पर
कोई नहीं होगा यहाँ / आरक्षित किसी स्तर पर
सब समान होंगे यहाँ / सच है कि शून्य कुछ नहीं
किन्तु यह भी सच है / शून्य बिन कुछ नहीं।

सीखना चाहता हूँ

❑ नित्यानंद गायेन

चला जाना चाहता हूँ / मैं वहाँ तक
जहाँ तक नजरें जाती हैं.... / जहाँ देखता हूँ रोज
सूरज को डूबते हुए।
मैं पकड़ना चाहता हूँ अपने हाथों में
पश्चिम के आकाश में फैले हुए रंगों को
भर लेना चाहता हूँ / उन्हें अपने दामन में।
कुमुदनी पर मचलते तितलियों से सीखना चाहता हूँ
आशिक बनना / मैं उनका शागिर्द बनना चाहता हूँ।
नन्हे पौधों से सीखना चाहता हूँ
सर झुकाकर नमन करना, और
सीखना चाहता हूँ / मित्रता, किन्तु / मनुष्यों से नहीं
पालतू पशुओं से, क्योंकि / वे स्वार्थ के लिए
कभी धोखा नहीं देते।

315, डोयन्स कॉलोनी, सेरीलिंगमपल्ली,
हैदराबाद–500019 मो.– 09030895116

डॉ. मणिशंकर प्रसाद स्मृति–ग्रंथ

❑ **अलख नारायण झा**

यह बड़ा ही सुन्दर–विलक्षण एवं अद्भुत ग्रन्थ है। हालाँकि मैंने डॉ. मणिशंकर प्रसाद के किसी काव्य का रसास्वादन तो क्या दर्शन भी नहीं किया था, पर इस स्मृति ग्रन्थ को पढ़ने के बाद आश्चर्य की अनुभूति हो रही है। लगता है जैसे मैं उनसे पूर्व परिचित हूँ, जैसे मेरे अपने थे। उनके संपूर्ण भाव–स्वभाव, काव्य–प्रभाव, सरल–सुविचार, सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तन की सारी संवेदनाओं से जैसे मैं परिचित हूँ। उनकी चिन्ता, उनका दर्द, उनकी सारी संवेदना जैसे सारे लेखकों सारे कवियो का प्रतिनिधित्व करते हैं। डॉ. मणिशंकर प्रसाद जी के बारे में उनके जीवन के सारे आयाम इस स्मृति ग्रन्थ में इतने सुस्पष्ट एवं इतने विस्तार से चित्रित किए गए हैं कि उनकी महानता का परिचय इसे पढ़ने पर किसी को भी आसानी से मिल सकता है। कृतित्त्व की कीर्ति महान व्यक्तित्त्व की साक्षी होती है। मुझे यह कहने में जरा भी हिचक नहीं है कि शारदा की लीला भूमि नालंदा, जहाँ एक से बढ़ कर एक विद्वान मनिषियों का अवतार हुआ– उसी नालंदा में डॉ. मणिशंकर बाबू का जन्म भले ही हुआ किन्तु वे किसी भी सीमा में बाँधे नहीं जा सकते। वे इस देश के मणि थे। और इसी कारण गौरवान्वित है बिहार एवं नालंदा।

मैं इस स्मृति–ग्रन्थ की समीक्षा में अपने संस्मरणों, विचारों एवं काव्यों से अलंकृत करने वाले सभी विद्वान लेखकों एवं कवियों का सम्मान करना चाहता हूँ। दरअसल सभी लेख उत्कृष्ट एवं सजीव हैं। डा. मणि बाबू के बाह्य एवं आन्तरिक भावों का सच्चाई के साथ खुलकर वर्णन करना हृदय को छू गया। यदि सभी लेखों की बारी–बारी से समीक्षा की जाए तो डर है कहीं यह भी एक समीक्षात्मक ग्रन्थ ही न हो जाये। अतः कहीं–कहीं जो हृदयस्पर्शी हैं उसका जिक्र भर करना चाहता हूँ।

भूतपूर्व शिक्षा मंत्री (बिहार सरकार) सुरेन्द्र प्रसाद "तरूण" को लिखे डा. मणि बाबू के दोनों पत्र मर्मस्पर्शी हैं जो उनकी मनोव्यथा से व्यथित कर देता है। कवि **डॉ. योगेश्वर प्रसाद सिंह 'योगेश'** की यह बात बिलकुल सच्ची एवं चिन्तनीय है कि **"बिहार में मणिशंकर बाबू जैसे साहित्यकारों पर न तो सरकार का ध्यान है और न साहित्यिक संस्थाओं का। बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन पर गैर साहित्यकारों का कब्जा है। वहाँ साहित्य का व्यवसायीकरण हो गया है, नाजायज ढंग से धन उगाहना तथा उनका दुरूपयोग करना उनका पेशा हो गया है।"** यह भी सच है कि बिहार में प्रतिभाओं की कमी नहीं है। अनेक ऐसे साहित्यकार हैं जो आर्थिक अभाव से जूझते हैं। दैहिक–दैविक तापों की विडम्बनाओं के शिकार हैं जिन्हें राजनैतिक एवं साहित्यिक स्तरों से अनादर उपेक्षा और उपहास मिला जो उनके तेज पुण्ज–प्रकाश पर अंधकार के बादल की तरह छाये हुए हैं। और यहीं इसी स्मृति ग्रन्थ के दूसरे लेखक **प्रो. कृष्णानन्द प्रसाद 'मागधी'** की बातें सटीक प्रतीत होती हैं कि **"सियासत आदमी को जब भेड़िया बना दे, जिससे भेड़िया बन आदमी धरती को नोचने–खसोटने की कौन कहे, आसमान को भी खरोचने लगे तब कवि के लिए चुप रहना संभव नहीं होता, वह विरोध और विद्रोह की बात करने लगता है।"**

डॉ. मणिशंकर बाबू भी समाज और सरकार के बल पर नहीं जिए। दरअसल न तो समाज, न ही सरकार उनके उच्च व्यक्तित्व एवं कद को पहचान सके। सच्चे साहित्यकारों में एक अपनी तरह का मजबूत आत्मबल होता है जिसके सहारे वह जरूरत पड़ने पर मौत से भी लड़ जाता है–जैसा **डॉ. एस.पी. एन. सिन्हा जी** अपने विचार उनके लिए व्यक्त करते है– **"मौत को हरा देने की आत्मशक्ति एक धैर्यवान, आत्मबल के धनी एवं आन्तरिक इच्छा शक्ति से संपन्न व्यक्ति को ही हो सकता है। उन्होंने मृत्यु को जीत लिया था। अमरत्व लिए–मृत्युजंयी इस तरह के दस्तावेज लिखने वाला हमने न देखा न सुना है। वे अद्भुत साहसी, कर्मवीर थे।"**

आज बहुत कम लोग हैं जो सेवानिवृत्ति के बाद जीवन को सही तरह से जी सकते हैं। दिनचर्या बदल जाने से, एक व्यस्त जीवन से छुट्टी मिल जाने से बहुत से लोग अपने को ज्यादा दिनों तक सँभाल ही नहीं पाते। परन्तु डा. मणि शंकर प्रसाद जी के बारे में स्मृति ग्रंथ के ही एक लेखक **श्री नृपेन्द्रनाथ गुप्त जी** क्या कहते हैं सुनिये– **"सेवानिवृत्ति के बाद तो ऐसा लगा कि उनकी गति में पंख लग गये हैं और साहित्य–संसार के विस्तृत गगन में ऊर्जावान पक्षी की तरह संचरण करने लगे।"**

कवि का काव्य ही उसका दर्पण होता हैं उनकी रचनाओं को पढ़कर उनके अर्न्तभावों को समझा जा सकता है। उनका समग्र दर्शन भी किया जा सकता है। और यही कारण है डॉ. मणि बाबू के विषय में **प्रो. दशई सिंह** की यह बातें अच्छी लगीं– **"प्रो. (डा.) मणिशंकर प्रसाद जब तक जिए, किसी के साथ जहर पैदा नहीं किए। सबके साथ शक्कर जैसी मिठास के साथ रहे। वे इस भव–सागर को खुशी–खुशी छोड़ कर चले गए पर उनकी भलाई "वसुधैव कुटुम्बकम्" रूपी प्रेम मिश्री अब भी वर्त्तमान है जिसे हम सभी मित्रगण अभी भी चाट रहे हैं।"** डा. **दामोदर प्रसाद जी** उनके गुणों का बखान करते हुए लिखते हैं– **"उनमें एक विलक्षण गुण था कि वे अपने से**

अल्पवयस्क अथवा अल्पज्ञान वालों को प्रोत्साहित कर लेखन कार्यों में प्रवृत्त किया करते थे।'' यह दर्शाता है कि वे कितने सरल एवं अहंकार रहित महामानव थे। इसी ग्रन्थ में **सिद्धेश्वर जी** क्या कहते हैं– जरा देखिए– **''साहित्य साधना करने वाले अपना सारा जीवन, इसका ज्ञान और दक्षता प्राप्त करने में लगा देते हैं, किन्तु उन्हें यही महसूस होता रहता है– अभी तो समुद्र से सिर्फ एक बूँद ही मिल पाई है। इनकी खोज का सिलसिला आजीवन चलता रहता है, वह कभी नहीं रूकता। यही नहीं, ज्यों–ज्यों समय बीतता जाता है साहित्यिक साधक की समझ बढ़ती जाती है, यह वास्तविक साधना है।''** दरअसल ईमानदारी से सच को सच मान लेना बुद्धिमानी होती है। जीवन हर दिन, हर क्षण कुछ न कुछ सीखने के लिए होता है, और वह क्षण अन्तिम काल में भी आ जाता है। डा. मणिशंकर जी भी जीवन के अंतिम क्षण तक इसी सच को ईमानदारी से तलाशते रहे। इसी कारण इनकी रचना कल्पना के अम्बर में नहीं, वास्तविकता के धरातल पर अक्षय–वट की छाया की तरह साहित्यकारों को शीतलता प्रदान करती है। **श्री सिद्धेश्वर जी** डा. मणि बाबू की रचनाओं के संबंध में आगे कहते हैं–**''डालडा से परहेज रख कर इन्होंने अपनी लेखनी से देशी घी के वघार ही लगाए, कहना न होगा कि इसी वजह से इनकी लेखन–शैली में मौलिकता और अपनी छाप है, और है साहित्यिक उत्कर्ष की अनुकरणीय छवि।''** यह बिल्कुल सच है कि आज साहित्यिक बाजार में मिलावट की होड़ है। शब्दों, वाक्यों और विचारों के अपहरण के साथ–साथ नकली–मसालेदार तथा मिलावटयुक्त डालडा की चटक–मटक वस्तुओं से साहित्यकार अपने को उच्च कोटि में स्थान पाना चाहते हैं। मैं तो उसे सुधीजन की संज्ञा नहीं दूँगा जो उन्हें तो पसन्द करते ही हैं बल्कि बेहिचक विद्वद्‌जनों में परोसते भी हैं। दरअसल देशी घी की कमी जरूर है परन्तु उसका मिलना असंभव भी नहीं है। और फिर जो सब दिन से इसी देशी घी के स्वाद से साहित्यिक सेहत बचाए हुए हैं उन्हें डालडा से परहेज सतत् रखना चाहिए। वैसे देशी घी भी सबको पचता नहीं है।

श्री वीरेन्द्र शुक्ल जी को डा. मणि बाबू एक पड़ोसी के रूप में प्राप्त हुए, यह उनका अहोभाग्य है। क्योंकि चन्दन के वृक्ष जहाँ होते हैं तो वहाँ के पास में उगे सारे वृक्ष सुगन्धित हो ही जाते हैं।

श्री ईश्वर प्रसाद डा. मणिशंकर प्रसाद की सारी रचनाओं की लगभग समीक्षा करते दिखते हैं। गुरू के प्रति श्रद्धानत होना उनके विनम्र स्वभाव को दर्शाता है। वे मणिबाबू की स्मृति में लिखते हैं– **''स्मृतियाँ कभी मिटती नहीं, स्मृतियों को एकदम तरोताजा रखने के लिए शीशे में मढ़ते हैं, लेकिन उस पर लगी धूल को साफ कर दें तो एक खूबसूरत खिलता हुआ चेहरा निकल आता है।''** आगे भी वे सर्वमान्य बातों को उद्धृत करते हैं– **''कवि की उत्कृष्ट रचनाएँ ही उनके चारित्रिक गुण के परिचायक हैं, कवि के हृदय स्वभावों की अभिव्यक्ति का सबसे प्रमुख साधन भाषा है। भाषा के ही माध्यम से प्रत्येक कवि अपनी भावनाओं को वाणी प्रदान करता है–''** आगे फिर कहते है **''कवि वस्तुगत यथार्थ को एक दृष्टि विशेष से देखने के लिए प्रेरित करता है, इसका मतलब है कि कविता में मन और स्थूल पदार्थ दोनों ही अपेक्षित हैं और दोनों के सम्मलित प्रयास से ही काव्यात्मक सौष्ठव उत्पन्न होता है।''** कवि वर्त्तमान पर खड़ा होकर भविष्य को देखता है।

पर मैं सोचता हूँ कवि के रूप में डॉ. मणि बाबू ने वर्त्तमान के रेत पर खड़े होकर स्वर्णिम भविष्य का बीजारोपण अपने समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए किया और यह आज के लेखकों और कवियों के लिए एक उदाहरण भी है– और यही सच है कि तभी एक स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकता है, मानव मूल्यों का संरक्षण हो सकता है।

अब और अधिक विस्तार से लिखने का खतरा उठाना वाजिब नहीं होगा। श्री उमेश प्रसाद, श्री शिव मणि प्रसाद, डॉ. शिववंश पांडेय आदि के जहाँ उत्कृष्ट लेख देखने को मिले वहीं अधिक सारगर्भित आख्यान डॉ. हरे कृष्ण तिवारी के भी अति सराहनीय हैं। वैसे सभी लेख एवं कविताएँ उत्कृष्ट एवं मनोहारी हैं। उनके पौत्र–पौत्रियों द्वारा दादाजी के प्रति उद्‌गार बेहद संवेदनात्मक हैं।

सुर और असुर, अच्छाई और बुराई, सच और झूठ, ईमानदार एवं बेईमान–हर समय हर युग में थे और मुख्य लड़ाई इन्हीं दोनों के बीच होती रहती थी और आज भी हो रही है और होती भी रहेगी। कुछ महान लोग होते हैं जो समय की प्रतिकूलता में भी अपने सिद्धान्तों से, अपने विचारों से एवं अपनी मान्यताओं से नहीं डिगते हैं, भले ही उन्हें वक्त की मार झेलनी पड़े। कष्ट एवं पीड़ाओं को वे सहजता से झेल भी लेते हैं क्योंकि उनके लिए सुख और दुख समरूप हो जाते है, मान–सम्मान और अपमान में भेद नहीं रह जाता है। भले ही लोग न देखें न समझें और नहीं जान सकें परन्तु अंत में उसी की जीत होती है। डा. मणि शंकर प्रसाद जी सुर की श्रेणी के प्राणी थे जो कभी–मरते नहीं और शायद वे सारे कष्टों को इसीलिए भी झेल पाए कि पुनः अब इस मर्त्य लोक में जन्में नहीं। उनके प्रति **मैं** अपना श्रद्धा–नमन अर्पित करता हूँ– अपनी मैथिली रचना की दो पंक्तियों से–

जीवैत जकरा मौत नैअ भेटलै, ओ जीवन की जीवन छी।
पग–पग पर खा, खा, कैं ठोकर हारए जे मन से मन की।

◗ संस्कृत उच्च विद्यालय, निर्मली, सुपौल, बिहार

नाटक के अनुवाद की समस्याएँ

❑ उपेन्द्र नाथ

साहित्यिक अनुवाद और साहित्येतर अनुवाद– अनुवाद स्रोत भाषा के कथ्य और शिल्प को यथासंभव सुरक्षित रखते हुए लक्ष्यभाषा में अवतरित करना है। किन्तु देखने–सुनने में यह कार्य जितना आसान दिखाई पड़ता है उतना है नहीं। हाँ इतना अवश्य है कि इस प्रक्रिया का आसान व मुश्किल होना इस बात पर निर्भर करता है कि किस प्रकार की सामग्री का अनुवाद किया जा रहा है। सच पूछा जाए तो साहित्येतर सामग्री का अनुवाद साहित्यिक सामग्री के अनुवाद से आसान होता है क्योंकि इसमें भाषा की भंगिमा का अंतरण नहीं किया जाता। किन्तु , साहित्यिक अनुवाद में ऐसी स्थिति नहीं है, क्योंकि इसमें मूल कृति की शैली के समग्र सौंदर्य को सुरक्षित रखा जाता है। इसमें शब्द के लिए शब्द और वाक्य के लिए वाक्य से काम नहीं चल सकता। साहित्येतर अनुवाद में जहाँ वस्तुपरकता, स्थूलता, निश्चितता, काव्य–प्रधानता आदि पर बल दिया जाता है वही साहित्यिक अनुवाद में आत्मपरकता, सूक्ष्मता, अनिश्चितता, शैली–प्रधानता आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है। साहित्येतर अनुवाद जहाँ एकआयामी प्रक्रिया है वहीं साहित्यिक अनुवाद बहुआयामी प्रक्रिया है। पहले में अभ्यास महत्त्वपूर्ण होता है तो दूसरे में प्रतिभा। यही प्रतिभा अनुवादक की संवेदनशीलता की सृजनात्मकता का द्योतक होती है। इसी सृजनात्मक प्रतिभा के द्वारा अनुवादक मूलकृति की अभिव्यक्ति की भंगिमा को संपूर्णतया लक्ष्य भाषा में उतारता है। निश्चित रूप से यह एक कठिन प्रक्रिया है और कदाचित् इसी कारण किसी ने अनुवादक को प्रवंचक कहा तो किसी ने अनुवाद–प्रक्रिया को कठिन कहा और किसी ने अनुवाद को ही असंभव घोषित कर डाला।

सफल साहित्यिक अनुवाद का मूलमंत्र यह है कि अनुवादक में ऐसी क्षमता होनी चाहिए जिससे वह स्रोत भाषा की व्याकरणिक एवं काव्यभाषिक भाषा के द्वारा व्यक्त पूरे अभिधामूलक अर्थ और अभिव्यक्ति की भंगिमा से व्यक्त काव्यभाषिक अर्थ को पूरी तरह लक्ष्यभाषा में उतार सके। अनुवाद में इन दोनों का अनुपात ही सफल अनुवाद की कसौटी कहा जा सकता है। किन्तु अनुवाद में प्रायः ऐसा हो नहीं पाता है। अनुवादक को कई कारणों से यह अनुपात बदलना पड़ता है, कुछ जोड़ना या छोड़ना पड़ता है। कई बार उसे मूल की अभिव्यक्ति व्याकरणिक भाषा से अभिधा के सहारे करनी पड़ती है। बहुत कम अनुवादों में ही ऐसा देखने में आता है कि उनमें शैलीपरक तत्त्व, मूल की अपेक्षा कहीं अधिक हों। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि साहित्यिक अनुवाद में यह एक आवश्यक गुण है जो अनुवादक से सृजनात्मक प्रतिभा की माँग करता है। इस संदर्भ में यह बात गौरतलब है कि अनुवादक से सृजनात्मकता की यह माँग मूल रचना की संपूर्ण अभिव्यक्ति भंगिमा पर निर्भर करती है। भाव एवं शैली के स्तर पर अभिव्यक्ति का यह सौंदर्य जितना अधिक होगा अनुवाद उतना ही कठिन होता जाएगा। स्पष्टतः यह कहा जा सकता है कि कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, आत्मकथा आदि का अनुवाद क्रमशः कठिन से आसान होता जाएगा।

नाटक का अनुवाद– साहित्य की किसी भी विधा का अनुवाद अपने आप में एक चुनौती है। नाट्यानुवाद उस चुनौती को नया आयाम देता है। अन्य विधाओं के मुकाबले नाटक की यह विशेषता है कि अपने लिखित रूप से लेकर दर्शकों तक पहुँचने की प्रक्रिया में, लिखित रूप के ही आधार पर, कई व्यक्तियों का उसमें सृजनात्मक योगदान रहता है। वैसे कभी–कभी तो यह योगदान पूरी कृति का स्वरूप ही बदल देता है।

नाटक के अनुवाद की समस्याओं की जड़ नाटक की विधा में ही मौजूद है। केवल संवादात्मक कथा का नाम नाटक नहीं है। नाटक ऐसी संवादात्मक और कार्य–व्यापार मूलक कथा है जिसे अभिनेता किसी–न–किसी रंगमंच पर दर्शकों के सामने प्रस्तुत कर सके और करे। जो नाटक अभिनेय नहीं हैं, उनकी गणना मूलतः नाटकों में नहीं, काव्य अथवा अन्य साहित्य–रूपों में होनी ही उचित है। नाटक के रूप में स्वीकृत होने के लिए रचना का अभिनेय होना सर्वथा अनिवार्य है। इसी से यदि अभिनय–जैसे अभिव्यक्ति के एक अन्य तथा भिन्न माध्यम से आत्यंतिक रूप में संबद्ध होने के फलस्वरूप, नाट्य रचना का कार्य कठिन है तो एक भाषा से दूसरी में उसका रूपांतर और भी कठिन होता है। किसी भाषा में नाटक का अनुवाद भी मूल की भाँति ही अभिनेय हो तथा उसे मूल नाटक की संपूर्ण अर्थवत्ता में और उसके विभिन्न आयामों में दृश्य और रूपायित किया जा सके, इसके लिए दो भाषाओं के ज्ञान के साथ–साथ अनिवार्य रूप से सामान्य रंग–विधान से और मूल नाटक की रंग–परंपरा से परिचय अत्यंत आवश्यक है।

नाटक के संवादों में ध्वनित और अभिप्रेत अर्थों का बहुत सा संदर्भ उसके रंग–विधान में होता है। संवाद नाटक के रूप से, कार्य–व्यापार से, अंग–परिचालन, गतियों और मुखाभिनय से, अविच्छिन्न रूप से जुड़े रहते हैं। यदि इन बातों से अनुवादक का परिचय व्यावहारिक न हो, तो वह न तो भावानुकूल सही या उपयुक्त शब्द ला सकेगा, न पूरी पद–रचना ऐसी कर सकेगा जिसका उसमें अभिप्रेत बाह्य तथा आंतरिक कार्य–व्यापार से सामंजस्य हो। नाटकीय संवाद में बहुत बार लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ ही प्रधान और नियामक होते हैं और इन अर्थों का संबंध नाटक के कार्य–व्यापार और समस्त नाट्य–परंपरा से होता है, जिन्हें समझे बिना उपयुक्त अनुवाद संभव नहीं। वास्तव में यह समझना जरूरी है कि नाटक का अनुवाद सामान्य साहित्यिक

अनुवाद से बहुत भिन्न है और अनुवादक के लिए रंगमंच का व्यावहारिक अनुभव एक अनिवार्य शर्त है।

नाटक के अनुवाद की समस्याएँ

सूसान बैसनेट ने अपने लेख **'स्ट्रेटजिज टू ट्रांसलेट थियेटर टैक्स्ट्स'** में नाटकानुवाद की विभिन्न पद्धतियों और उनसे संबंधित समस्याओं पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। संक्षेप में ये पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं–

1. मूल नाट्य–कृति को साहित्यिक कृति मानकर अनुवाद करना– अधिकतर नाट्य–अनुवादों में अपनायी जाने–वाली इस पद्धति में अनुवादक नाटक के नाटकीय तत्त्वों को नजरअन्दाज करता है और उसके भाव पक्ष को अधिक महत्त्व देता है। इसके पीछे प्रायः मूलकृति के प्रति ईमानदारी ही मूल कारण है। यह पद्धति प्रायः वहाँ अपनायी जाती है जहाँ एक ही नाटककार की सभी कृतियों का अनुवाद किया जाना हो और उसके मंचन की अपेक्षा प्रकाशन में अधिक रुचि हो।

2. स्रोत भाषा की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को आधार मानकर अनुवाद करना– पिछले दशक में विशेषकर अंग्रेजीभाषी इलाकों में अधिक लोकप्रिय हुई इस पद्धति में स्रोतभाषा के प्रचलित सांस्कृतिक बिम्बों को लक्ष्यभाषा में प्रयोग करके हास्य उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार के अनुवाद का परिणाम बड़े पैमाने पर वैचारिक परिवर्त्तन होता है। उदाहरण के लिए इटली के नाटककार Dario Fo के नाटक Accidental Death of an Anarchist का अंग्रेजी में मंचन किया गया तो यह पुलिस, राजनीति के क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार पर तीखे व्यंग्य की अपेक्षा इतालवियों की विसंगतियों और अधिकार–शक्तियों के उपहास का अच्छा–खासा विषय बना।

3. नाटक की अभिनेयता का अनुवाद करना– अभिनेयता जैसे शब्द का प्रयोग नाटकानुवाद के संदर्भ में उन अनुवादकों द्वारा अधिक किया जाता है जो रंगमंच के तत्त्वों को ध्यान में रखकर नाटक की मंचनीयता को वैज्ञानिक स्तर पर पुनर्प्रस्तुत करते हैं। कहा तो अक्सर जाता है कि अभिनेयता के गुणों को अनुवाद में सुरक्षित रखा जाना चाहिए। पर कैसे रखा जाए, इस विषय में कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया गया है।

4. काव्य–नाटक की स्रोतभाषा में प्रयुक्त काव्यशैली का अन्य शैलियों में अनुवाद– काव्यनाटकों की काव्यात्मकता को, उसकी काव्य–शैली को कहाँ तक सुरक्षित रखा जाए, यह भी अनुवादक के सामने एक प्रमुख समस्या है। अँग्रेजी में कई ऐसी विदेशी रचनाओं का अनुवाद हुआ है जिनमें मूलकृति की काव्य–शैली को छोड़कर अन्य शैलियों को अपनाया गया है जिनमें Heroic Couplet और Blank Verse प्रमुख हैं। ऐसा इसीलिए किया गया क्योंकि अंग्रेजी में उस मूल कृति की काव्य–शैली को भली–भाँति नहीं उतारा जा सकता था और न ही उसके सौन्दर्य को सुरक्षित रखा जा सकता था। इसीलिए अनुवादकों को स्रोतभाषा की काव्यशैली की उपेक्षा करनी पड़ी। मूलकृति की काव्य–शैली की अनुवादकों द्वारा उपेक्षा किए जाने का कारण यही है कि काव्य–नाटकों का पद्यानुवाद करने की कोशिश में अनूदित पाठ, पाठकों के लिए निरर्थक नहीं तो दुरुह अवश्य हो जाता और स्रोतभाषा के काव्यगत सौन्दर्य के कहीं दर्शन नहीं होते।

5. सहयोग प्रेरित अनुवाद– इसमें दो व्यक्तियों, अनुवादकों के सहयोग की आवश्यकता होती है। इसमें एक व्यक्ति स्रोतभाषा और लक्ष्यभाषा दोनों को बोलने वाला हो सकता है या फिर ऐसा हो सकता है जिसे स्रोतभाषा का पूरा ज्ञान हो और जो उस निर्देशक और अभिनेताओं के साथ काम करता हो जिन्हें वह नाटक प्रस्तुत करना है। इस पद्धति में अभिनेयता के गुण की ओर ध्यान न देकर अनुवादक को कृति के लिखित तथा मौखिक पक्षों को एक साथ लेकर चलना होता है। इस पद्धति का लाभ यह है कि अनुवाद–प्रक्रिया के दौरान नाटकानुवाद की मंचन संबंधी समस्याओं से वास्ता पड़ता है जैसे स्रोतभाषा और लक्ष्यभाषा की संस्कृति की नाट्य–परंपराओं की विभिन्नता की समस्या और अभिनेयता की विभिन्न शैलियों की समस्या। **बैसनेट** का कहना है कि **नाटकानुवाद की सबसे संतोषजनक पद्धति नाटक–कंपनी और उस नाटक के खेलने वाले पात्रों का सहयोग प्राप्त करने की है।**

नाटकानुवाद के समस्याओं की चर्चा निम्नलिखित है–

(क) मूलकृति का चयन– सर्वप्रथम समस्या यही है कि अनुवादक आखिर किस आधार पर अनूद्य कृति का चयन करे। यों तो प्रत्येक अनुवादक की कसौटियाँ अलग–अलग हुआ करती है पर फिर भी कुछ ऐसी कसौटियाँ हैं जिन्हें प्रत्येक अनुवादक को अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं के साथ–साथ ध्यान में रखना अनिवार्य हो जाता है। ये निम्नलिखित हैं–

(1) अनुवादक की रुचि, प्रतिभा एवं विषय–प्रवीणता–सर्वप्रथम आधार यही हो सकता है। स्पष्ट है कि प्रत्येक अनुवादक किसी भी प्रकार के विषय की रचनाओं का अनुवाद करने में पूर्ण रूप से सक्षम नहीं होता और अगर सक्षम हो तो भी वह अपनी रूचि के विरूद्ध काम कर उस कृति विशेष के साथ न्याय नहीं कर सकता। मनपसंद विषय–विशेष में भी किसी विधा–विशेष में विशेषज्ञता हासिल करना उत्तम रहता है। स्पष्ट ही एक कवि कविता का, एक रंगकर्मी नाटक का और एक कथाकार कथा–साहित्य का अधिक स्वाभाविक अनुवाद प्रस्तुत कर सकता है।

(2) मूलकृति की लोकप्रियता एवं महानता– रुचि के अनुसार अपने विषय की रचना चुनते समय अनुवादक को यह भी देख लेना चाहिए कि वह स्रोतभाषा में यथासंभव किसी प्रतिष्ठित लेखक की ऐसी लोकप्रिय रचना हो जो रंगमंच पर भी सफलता प्राप्त कर चुकी हो। उदाहरण के लिए इब्सन के 'दि वाइल्ड डक', ब्रेख्त के 'मदर करेज', गोर्की के 'दि लोअर डेप्थ', कामू के 'कालीगुला', सेमुअल बैकेट के 'वेटिंग फोर गोडो', टी.एस. इलिएट के 'दि काकटेल पार्टी', ओ नील के

'दि', लांग डेज जर्नी इंटू नाइट आदि नाटकों का हिन्दी अनुवाद हो चुका है। स्पष्ट ही ये सभी रचनाएँ पाश्चात्य साहित्य की अमूल्य निधि तो हैं ही, सफल लोकप्रिय ओर रंगमंच की दृष्टि से उत्तम हैं। ऐसी रचनाओं का चयन करने में एक ओर तो लक्ष्यभाषा का साहित्य समृद्ध होता है और दूसरी ओर लक्ष्यभाषा के पाठक एवं दर्शक की साहित्यिक जिज्ञासा का समाधान भी हो जाता है।

(3) कथावस्तु की प्रासंगिकता—ऐतिहासिकता के साथ ही सार्वभौमिकता और समकालीनता के आधार को ध्यान में रखते हुए मूलकृति का चयन किया जाना चाहिए। शेक्सपियर, बेन जॉनसन, गाल्सवर्दी, आस्कर वाइल्ड, बर्नाड शा, इब्सन आदि के नाटकों का अनुवाद इन्ही आधारों को ध्यान में रखकर किया गया। चन्द्रशेखर कम्बार के 'बलि का बकरा', विजय तेंदुलकर के 'जात ही पूछा साधु की' और सखाराम बांइडर, बसंत कानेटकर के 'आँसू बन गए फूल', 'ढाई आखर प्रेम का' जैसे नाटकों की कथा—वस्तु शायद इसीलिए अनुवादक को अच्छी लगी होगी।

(4) अभिनय—गुणों की संपन्नता—जहाँ तक सम्भव हो अनुवादक को ऐसी मूल कृति का चयन करना चाहिए जिसमें अभिनेयता के सभी गुण हों और साथ ही उसकी तकनीक के संदर्भ में भी अपनी क्षमताओं का पूर्वालोकन कर लेना चाहिए।

(ख) अनुवाद अथवा रूपांतर—अधिकांश अनुवाद—चिंतक अब इन दोनों को पर्यायवाची मानने लगे हैं क्योंकि दोनों का उद्देश्य मूलकृति में कम से कम परिवर्त्तन करके लक्ष्यभाषा में प्रस्तुत करना है। यद्यपि दोनों ही कलात्मक अथवा सृजनात्मक प्रक्रियाएँ हैं तथापि तुलनात्मक दृष्टि से रूपांतर अधिक कठिन होता है क्योंकि इसमें अनुवाद की तुलना में अधिक सृजनात्मकता की आवश्यकता होती है।

(ग) मूलनिष्ठता अथवा स्वतंत्रता—अनुवाद को मूल—निष्ठता के दायित्व—निर्वहन के साथ—साथ लक्ष्यभाषा के पाठक की बोधगम्यता को भी ध्यान में रखना पड़ता है। लक्ष्यभाषा की सहजता के लिए मूल के जटिल अंशों अथवा प्रसंगों तथा स्रोतभाषा के गूँथे हुए भिन्न सांस्कृतिक स्थलों में आवश्यकतानुसार कुछ छूट तो अवश्य दी जानी चाहिए। यहाँ एक और प्रश्न उठता है कि नाटक के अनुवाद को दर्शकों के प्रति अधिक वफादार होना चाहिए या मूलकृति के प्रति। वास्तव में अनुवादक को दोनों के प्रति वफादार होना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि अनुवादक दर्शकों को खुश करने के लिए अर्थ का अनर्थ कर दे या फिर मूलनिष्ठता के फेर में दर्शकों को निराश कर दे।

(घ) कथावस्तु की आंचलिकता अथवा सार्वभौमिकता—रचना जितनी आंचलिक होगी, उसका अनुवाद उतना ही कठिन होगा और जितनी सार्वभौमिक होगी, अनुवाद उतना ही सफल होगा। वास्तव में आंचलिक रचना का रूपांतर नहीं हो सकता, यदि हो भी जाए तो वह सफलता प्राप्त नहीं कर पाती क्योंकि उसमें सार्वकालिक संदेश अथवा आकर्षण का अभाव होता है। किसी भी ऐसी रचना का सफल रूपांतर किया जा सकता है जिसकी कथावस्तु सार्वभौमिक संदेश और आकर्षण लिए हुए हो, क्योंकि उसे विश्व के किसी भी परिवेश और पात्रों के अनुकूल ढाला जा सकता है। शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद / रूपांतर इसलिए ही विश्व में लोकप्रिय हुए क्योंकि उनकी कथावस्तु इतनी सार्वभौमिक है कि विश्व के किसी भी भाग में उन्हें लागू किया जा सकता है।

(ड.) प्रासंगिकता—नाट्यानुवाद में सदैव परिवर्तन की गुंजाइश रहती है। यह परिवर्त्तन यथास्थान और यथास्थिति नाटकीय भाषा, नाटकीय शैली, नाटकीय परम्परा, नाटकीय संस्कृति के स्तर पर करने ही पड़ते हैं अन्यथा वह दर्शकों की अपेक्षानुरूप नहीं होगा। विचार करने पर लगता है कि अनूदित नाटक सदैव परिवर्तन के लिए स्वतंत्र होना चाहिए और ऐसा तब तक होते रहना चाहिए जब तक कि नया नाट्य रुपांतर सामने न आ जाए। शेक्सपियर के नाटकों या दूसरी विधाओं के अनुवादों को बार—बार अलग—अलग लोगों द्वारा अनूदित करने के पीछे प्रमुख उद्देश्य प्रासंगिकता ही है। हालाँकि शेक्सपियर के नाटकों के प्रारंभिक अनुवादों और आधुनिक अनुवादों की तुलना करने पर दोनों में अत्यधिक अंतर देखने को मिलता है। किसी भी कृति के अनूदित स्वरूप की सफलता का मापदंड उसकी समकालीनता ही होती है। ग्रीक त्रासदियों के अनुवाद आज बहुत से परिवर्त्तनों के साथ किए जा रहे हैं। प्रासंगिकता संबंधी समस्याओं का समाधान मूल लेखक, अनुवादक और निर्देशक को मिलकर दर्शक के अनुरुप ही करना चाहिए।

(च) सांस्कृतिक परिवेश—मूलकृति के सांस्कृतिक परिवेश को लक्ष्यभाषा में सुरक्षित रखने या अवतरित करने की समस्या अनुवादक के लिए एक कठिन चुनौती होती है। इसकी रक्षा विभिन्न प्रकार के नाटको में विभिन्न प्रकार से की जाती है। मूल नाटक के देशकाल का लक्ष्यभाषा में भारतीयकरण करना चाहिए या नहीं—यह एक विवादास्पद विषय रहा है। वस्तुतः इन दोनों के बीच की स्थिति ही आदर्श स्थिति मानी जा सकती है। वैसे इन दोनों का निर्णायक बिंदु दर्शक—वर्ग हो अर्थात् दर्शक के रहने का स्थान, उसके बौद्धिक स्तर आदि को ध्यान में रखा जाए तो उचित होगा। महानगरों के हाई—फाई और आधुनिक मानसिकता के दर्शकों के संबंध में संस्कृति के अजनबीपन की बात करना कुछ जमता नहीं है क्योंकि आज सारा विश्व एक छोटी इकाई के रूप में सिमटता जा रहा है। सांस्कृतिक फासले जब बहुत अधिक होते थे तब भारतीयकरण या देशीकरण ठीक लगता था। महानगरों के कला—केन्द्रों में नाटक देखने आने वाले दर्शक को कामू , सार्त्र, शेक्सपियर आदि के अनूदित नाटक विदेशी या अजनबी संस्कृति का लगने ही चाहिए। वस्तुतः वह आया ही इसलिए है कि उसे कुछ नया देखने को

मिलेगा। कहने का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि दर्शक की अपेक्षाओं की पूर्णतः उपेक्षा की जाए, कि नाटक उनके लिए अबोधगम्य ही रहे, उसमें भाषिक एवं सांस्कृतिक उलझाव हो, अस्पष्टता हो। नहीं, ऐसा तो होना ही नहीं चाहिए। इस उद्देश्य के लिए रूपांतरकार यथास्थिति कुछ परिवर्त्तन कर सकता है, कुछ छोड़ सकता है, कुछ जोड़ सकता है इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

मूलकृति के पात्रो व स्थानों के नाम स्रोतभाषा के ही हों तो ठीक रहेगा। आज विदेशी संस्कृति के स्थानो एवं पात्रों के नाम भी अटपटे नहीं लगते।

अनैतिकता एवं अश्लीलता के विषय में भी समस्या उत्पन्न होती है। अनैतिकता एवं अश्लीलता स्थान–सापेक्ष, संस्कृति–सापेक्ष एवं समय–सापेक्ष होती है। बहुत से काम कल तक अश्लील माने जाते थे पर आज ज्यादा खुलापन होने की वजह से अश्लील नहीं माने जाते। टेनेसी विलियम्स या आर्थर मिलर के नाटक में कुछ अनैतिक या अश्लील प्रसंग देखे जा सकते हैं। दर्शकों को ध्यान में रखते हुए इन्हें छोड़ा जा सकता है या कुछ संशोधन भी किया जा सकता है।

समस्या वेशभूषा, बुजुर्गों को नाम लेकर पुकारने और असभ्य संबोधनों की भी है। ग्रामीण परिवेश के दर्शकों के लिए वेशभूषा में परिवर्तन करना तो उचित है पर शहरी परिवेश के दर्शकों के लिए नहीं। हम इतने एडवांस अभी नहीं हुए हैं कि बुजुर्गों को नाम लेकर उनकी उपस्थिति में संबोधित करें। अनुवाद में इसका भी ध्यान रखना चाहिए।

(छ) नाटकीय भाषा के तेवर– अनुवाद की भाषा भी मूल के समान पात्रानुकूल, भावानुकूल और प्रसंगानुकूल होनी चाहिए। प्रवाह बरकरार रखने के लिए सहज आम बोल–चाल की भाषा, जिसमें तद्भव शब्दों और मुहावरों–लोकोक्तियों का उचित प्रयोग हो, का प्रयोग करना चाहिए। नाटकीय भाषा में काव्यात्मकता, सघनता, तीव्रता, व्यंजना, चुस्ती एवं संक्षिप्तता, सहजता, लयात्मकता, नाटकीयता एवं लक्ष्य भाषी मुहावरे का प्रयोग करने जैसे गुण भी अपेक्षित हैं। नाटकीय भाषा के तेवर इतने विस्तृत एवं चुटीले होते हैं कि उन्हें वश में करना साधारण कार्य नहीं है। मूल रचनाकार की दृष्टि और नाटक की आत्मा को इसी माध्यम से व्यक्त किया जाता है। पात्र के व्यक्तित्व, सामाजिक स्तर और शिक्षा के स्तर के अनुसार ही भाषा का प्रयोग करना चाहिए। पात्र की मनःस्थिति का भी ध्यान रखना चाहिए। उदाहरण–

(1) पात्रानुकूल भाषा (भाषा की प्रयुक्तियाँ & शैलियाँ)

What brings you here? Who wants to go to heaven? I can do anything for money, you know.

<u>सामान्य अनुवाद</u>– आप यहाँ किसलिए आए हैं? कौन स्वर्ग जाना चाहता है? पैसे के लिए मैं कुछ भी कर सकता हूँ।

<u>प्रस्तावित अनुवाद</u>– **1. पठान की भूमिका निभाने वाले के लिए**– किसकी मौत आई जो शेरखान की याद आई? दौलत की खातिर हम कुछ भी कर सकती।

2. दक्षिण भारतीय की भूमिका निभाने के लिए– अव्यो, ये किसका मौत तुम्हें हमारे पास लाया जी? कौन, इधर में मरने के वास्ते आया? पैइसा के वास्ते अम कुछ भी कर सकता जी।

निष्कर्षतः हम पाते हैं कि नाटक का अनुवाद करके स्रोतभाषा की सामग्री की पूरी अर्थवत्ता, सहजता, उसकी सांस्कृतिक गरिमा, उसका पूरा बल और उसका शैलीय सौन्दर्य–सब कुछ ला पाना काफी कठिन या प्रायः असम्भव काम है। पर यदि अनुवादक को रंगमंच का सामान्य ज्ञान होने के साथ–साथ स्रोत भाषा एवं लक्ष्यभाषा के रंगमंच का भी ज्ञान हो, वह भाषायी कृत्रिमता के प्रति सचेतता बरते, संवाद के अनुवाद में स्रोत भाषा की छौंक आने के प्रति सचेत रहे, दोनों भाषा की संस्कृति से परिचित हो, कथ्य अक्षुण रखते हुए मुक्तानुवाद करने से न डरे, बातचीत के विषयानुसार एवं पात्रानुसार सहज लहजे और मुहावरे का प्रयोग करे तो उसे सफलता मिलेगी। वैसे किसी पूरे नाटक का अनुवाद हर दृष्टि से आदर्श होना बहुत कठिन है। उसमें सुधार की गुंजाइश बनी रहती है। अतः नाटक के अनुवाद को लक्ष्यभाषा के सहज मुहावरे में ढालने के लिए बार–बार पढ़ना चाहिए। यदि दो–एक और लोगों को भी बिना मूल दिखाए पढ़ा लिया जाए तो और भी अच्छा हो। नाटकानुवाद काफी कठिन है। इसके बावजूद अनुवाद होते हैं, होते रहे हैं और होते रहेंगे भी।

<u>संदर्भ–ग्रंथ</u> :– (क) <u>*हिंदी*</u> 1. खत्री, एस.पी. : **नाटक की परख,** साहित्य भवन, इलाहाबाद।

2. गुप्त, गार्गी (सं.) : **अनुवाद बोध,** भारतीय अनुवाद परिषद, नई दिल्ली, 1990।

3. ओझा, दशरथ : **हिंदी नाटक कोश,** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, 1974।

4. नगेन्द्र (सं.) : **अनुवाद विज्ञान– सिद्धान्त और अनुप्रयोग,** दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1993।

5. शर्मा, श्रीपति : **हिंदी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव,** विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1961।

(ख) <u>*अंग्रेजी*</u> :– **1.** Bassnett, S. and Lefevere, A. (Eds.) **: Translation, History and Culture,** Printer Publisher, London & New York, 1990.

2. Bassnett, S : **Translation Studies,** Metheum, London & New York, 1980.

3. Clark, B.H. : **European Theories of the Drama,** New York, 1947.

4. Hermaus, Theo (ed.) : **The Manipulation of Literature - Studies in Literary Translation,** Croom Helm, London , 1985.

5. Lakshmi, H. **: Problems of Translation,** Booklines Corporation, Hydrabad, 1993.

बी–173, मधु विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली–59

सफेद फूल

❑ दीनानाथ साहनी

सूर्यास्त को चुका था। शाम का धुँधलका फैलने लगा था। वेदान्त ने घर की खिड़की से झाँककर देखा–बाहर गीली घास पर उसकी उम्र के कई बच्चे खेल रहे थे। उनकी किलकारियाँ सुनकर आठ वर्षीय वेदान्त का मन मचल उठा–वह भी उन बच्चों के संग जाकर खेले, झूले का आनन्द ले और खूब शैतानी करे।

स्कूल से लौटते समय रोज शाम को बच्चे उस चिल्ड्रेन पार्क में जाकर खेला करते थे। बड़ा सुन्दर पार्क था, मखमली घास वाला। घास में यहाँ–वहाँ तारों की तरह रंगीन फूल जड़े थे और उसमें बारह नारंगी के पेड़ थे जिनमें वसंत में किसलय लगते थे और पतझड़ में रसदार फल। मीठी अमिया के पेड़ भी थे, जो गर्मियों में खूब फलते थे। सर्दी हो या गर्मी, पेड़ों की शाखाओं पर बैठकर चिड़ियाँ इतने मीठे स्वरों में गाती थीं कि बच्चे खेलना छोड़ गुनगुनाने लगते थे। गर्मी की छुट्टियों में बच्चे खूब मस्ती करते थे।

रोज शाम में एक जादूगर पार्क में आता था, जो बच्चों को जादू का खेल दिखाकर मनोरंजन करता था। अक्सर बच्चे जादूगर के आने की प्रतीक्षा करते थे। इधर कई दिनों से जादूगर बच्चों का मन बहलाने नहीं आया था। खेल–खेल में बच्चे जादूगर की याद में खो जाते थे; किन्तु जादूगर को नहीं देखकर उदास हो उठते थे।

स्कूल में गर्मी की छुट्टी हो चुकी थी। वेदान्त जानता था कि माँ उन बच्चों के संग कभी नहीं खेलने देगी। इसलिए 'होम वर्क' से मन उचटने पर वह कभी कॉमिक्स बुक पढ़ते हुए समय व्यतीत करता तो कभी टीवी पर कार्टून नेटवर्क देखने लगता। उसे सुबह से लेकर रात तक माँ के निर्देशानुसार कार्य करना पड़ता था। सुबह उठकर नृत्य व गायन की कक्षाओं में जाना और शाम को तैराकी प्रशिक्षण। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन दो घंटे ट्यूशन पढ़ना, उसे बुरी तरह थका देता था। अक्सर स्टेज पर विभिन्न संस्थाओं द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में शामिल होने पर मजबूर किया जाता था। यदि किसी कार्यक्रम में उसे पुरस्कार नहीं मिलता तो माँ नाराज होती थीं। परीक्षा में कम अंक मिलने पर उसे डाँट पड़ती थी। उसकी पूरी दिनचर्या माँ पर निर्भर होकर रह गयी थी।

एक दिन जादूगर पार्क में लौट आया। वह अपने मित्र को देखने गया था और वहाँ एक सप्ताह तक रूक गया था। सप्ताह भर तक बातें करते रहने के बाद उसकी बातें समाप्त हो गयीं। और वह अपने घर को लौट आया। जब वह आया तो उसने पार्क में बच्चों को उधम मचाते हुए देखा।

'ए! तुम लोग यहाँ क्या कर रहे हो'– उसने गुर्राकर पूछा। उसकी आवाज बेहद डरावनी थी, जिसे सुनकर बच्चे भाग खड़े हुए।

जादूगर ने पार्क में चादर बिछाया और कंधे से अपना बड़ा थैला उतारकर बैठ गया। वह कुछ बुदबुदा रहा था। दूर भागते हुए बच्चे पलटकर उसे देख रहे थे। कुछ ही पल में दृश्य बदल गया–बेहद जादुई दृश्य!

'मेरा पार्क, मेरा खुद का पार्क है। इसलिए उसने उसके चारों ओर ऊँची दीवार खिंचवायी और फाटक पर एक तख्ती लटका दी जिस पर लिखा था–'आम रास्ता नहीं है।'

अब बेचारे बच्चों के खेलने के लिए कोई जगह नहीं रह गयी थी। वे सड़क पर खेलने लगे, मगर सड़क पर बच्चों के कोमल पैरों में नुकीले पत्थर गड़ते थे। अतएव जब उनकी स्कूल से छुट्टी हो जाती थी तो वे पार्क के उस ऊँची दीवार के चारों ओर चक्कर लगाते थे।

समय तेजी से बीतता गया पर जादूगर पार्क छोड़कर नहीं गया। अब के बरस वसंत आया और सभी बगीचों में छोटी–छोटी चिड़ियाँ चहकने लगीं और नये किसलय फूल खिलने लगे।

मगर इस जादूगर के पार्क में अब भी शिशिर ऋतु थी। उसमें बच्चे नहीं थे इसलिए चिड़ियाँ गाने की इच्छुक न थीं और पेड़ फूलना भूल गये थे। संतरे और आम के पौधों ने फल देना छोड़ दिया था।

पार्क के चारों ओर उदासी पसरी थी। एक बार एक फूल ने हरी–हरी घास से सिर निकाल कर ऊपर झाँका; किन्तु जब उसने वह तख्ती देखी तो उसे इतना दुःख हुआ कि वह शबनम के आँसुओं से रोता हुआ फिर जमीन में सोने चला गया। पार्क में केवल जादूगर का खौफ था।

हाँ, हिम और पाला बेहद खुश थे–'वसंत शायद इस पार्क को भूल गया है। अब हम साल भर यहीं रहेंगे।' उन्होंने बंगाल की खाड़ी की 'लैला' (समुद्री चक्रवात) को भी आमंत्रित किया और वह भी वहीं आ गयी।

'वाह! कैसी अच्छी जगह है' लैला ने कहा–'यहाँ ओलों को भी बुला लिया जाय तो कैसा होगा?'' और ओले भी आ गये।

'मालूम नहीं, अभी तक वसंत क्यों नहीं आया?' स्वार्थी जादूगर ने पार्क में चारो तरफ देखते हुए सोचा–उसने सामने के घर की छत पर रखे गमले में हिमपात से सफेद पड़े फूलों की ओर गौर से देखा–'अब तो मौसम बदलना चाहिए।'

लेकिन, वसंत नहीं आया और न ग्रीष्म। पतझड़ में हर बगीचे में सुनहले फल झूलने लगे–मगर जादूगर के पार्क में पेड़ों की शाखाएँ खाली थीं–उनमें न फूल उगे थे और न फल

लगे थे। घास पर कटीली झाड़ियाँ उग आई थीं।

'वह बड़ा स्वार्थी है।' गमले में लगे सफेद फूल ने पतझड़ से कहा।

पतझड़ ने भी मौन तोड़ते हुए कहा—'जादूगर को अब जाना ही चाहिए।' और पार्क में मौसम का हर रंग जड़वत—सा रहा। वहाँ सदा शिशिर रहा और आँधी, हिम और ओले के साथ कोहरा बराबर छाया रहा।

एक दिन पार्क में जादूगर को बड़ा आकर्षक संगीत सुनाई पड़ा। इतना मीठा था वह स्वर कि उसने समझा, कोई राजकुमारी गीत गा रही है; किन्तु, वास्तव में उस पार्क में वृक्ष की डाल पर बैठकर एक चिड़िया गीत गा रही थी। किसी भी खग के कलरव को सुने उसे इतने दिन बीत गये थे कि वह उसे संगीत समझ रहा था। उस वक्त हिमपात रूक गया था, आसमान साफ था, तूफान सो गया था। और खुले हुए वातायन से सौरभ की लहरें उसे चूम रही थीं।

'लगता है वसंत आ गया'—जादूगर ने खुद को दिलासा दिया और हरे—भरे पार्क को निहारने लगा। उसने एक आश्चर्यजनक दृश्य देखा—दीवार के एक छोटे से छेद में से बच्चे भीतर घुस आये हैं और पेड़ की शाखाओं पर बैठ गये हैं। पेड़ बच्चों का स्वागत करने में इतने खुश थे कि वे फूलों से लद गये थे और लहराने लगे थे। फिर भी एक कोने में अभी शिशिर ठहरा हुआ था। वहाँ एक बहुत छोटा बच्चा खड़ा था। वह इतना छोटा था कि पेड़ की शाखा तक नहीं पहुँच पाते था। वह रोता हुआ घूम रहा था। बर्फ से पेड़ ढँके थे और उस पर शीतल हवा बह रही थी और शाखाएँ झूम रही थीं।

'प्यारे बच्चे, चढ़ जाओ!' पेड़ ने प्यार से कहा और अपनी शाखा झुका दी, मगर वह बच्चा बहुत छोटा था और शाखा पर नहीं चढ़ पाया।

यह दृश्य देखकर जादूगर का दिल पिघल गया।

'मैं कितना स्वार्थी हूँ।' उसने सोचा, 'यही कारण था कि अभी तक मेरे बाग में वसंत नहीं आया था? मैं उस बच्चे को पेड़ पर चढ़ा दूँगा, यह दीवार तुड़वा दूँगा और तब मेरा बाग सदा के लिए शैशव की क्रीड़ा—भूमि बन जाएगा।'

वह मुस्कुराते हुए पार्क में घूमने लगा। जब बच्चों ने उसे देखा तो वे डरकर भाग खड़े हुए और पार्क में फिर शरद आ गया। मगर उस छोटे से बच्चे की आँखों में आँसू भरे थे और वह जादूगर का आगमन नही देखा सका। जादूगर चुपचाप पीछे से गया और उसने उसे धीरे से उठाकर पेड़ की शाखा पर बिठा दिया। पेड़ में फौरन कलियाँ फूट निकलीं और चिड़ियाँ लौट आई और गाने लगीं। छोटे बच्चे ने अपनी नन्हीं बाहें फैलाकर जादूगर को चूम लिया। उसे ऐसा करते देख, अन्य बच्चे भी यह सोचकर कि जादूगर अब निर्दयी नहीं रहा, पार्क में लौट आए। यह सब देखकर पार्क में वसंत भी लौट आया।

'अब यह पार्क तुम्हारा है।'—जादूगर ने बच्चों से कहा और उसने फावड़ा लेकर वह दीवार गिरा दी, जिसे उसने खुद खड़ा किया था।

दिनभर बच्चे पार्क में खेलते रहे और शाम होने पर वे जादूगर से विदा माँगने आये।

'मगर वह नन्हा साथी कहाँ है?' उसने पूछा—'वह जिसे मैंने पेड़ पर बिठाया था।'

जादूगर उसे प्यार करने लगा था।

'हम नहीं जानते—वह आज पहली बार आया था।'

जादूगर बहुत दुःखी हो गया।

हर रोज स्कूल के बाद बच्चे आकर जादूगर के साथ खेलते थे। मगर वह छोटा बच्चा फिर कभी नहीं दिखाई पड़ा। वह सभी बच्चों को चाहता था मगर उस नन्हें बच्चे को बहुत प्यार करता था।

बरसों बीत गये और वह जादूगर बहुत बुड्ढा हो गया। अब पार्क में वह बैठ जाता था और बच्चों के खेलों को देखा करता था और खुद से बातें करते रहता था—'मेरे बाग में इतने फूल हैं मगर ये जिन्दा फूल सबसे कोमल है।'

एक दिन जाड़े की सुबह उसने पार्क में देखा—एक विचित्र दृश्य था। उसने ताज्जुब से आँखें मली। दूर कोने में एक पेड़ सफेद फूलों से ढँका था। उसकी डालियाँ सोने की थीं और उसमें चाँदी के फल लटक रहे थे और उसके नीचे वह बच्चा खड़ा था। वह प्यार नन्हा बच्चा, जिसे वह बेहद प्यार करता था।

जादूगर खुशी से पागल होकर दौड़ा और बच्चे के पास जाकर गौर से देखा। उसने आगे बढ़कर बच्चे को गले से लगा लिया। वह चीख पड़ा—'असली फूल तो ये बच्चे हैं।'

बच्चे को गले से लगाए जादूगर स्तब्ध होकर सो गया। नींद में उसने बच्चे से बातचीत की। बच्चे ने हँसकर कहा—'तुमने सिर्फ मुझे अपने पार्क में खेलने दिया था। आज तुम मेरे बाग में चलो—वह बाग जिसे लोग स्वर्ग कहते हैं।'

अगले दिन सुबह में जब बच्चे पार्क में खेलने आए तो उन्होंने देखा कि उस पेड़ के नीचे सफेद फूलों की चादर ओढ़े बूढ़ा जादूगर आनन्द निद्रा में है। उस पर पेड़ से सफेद फूल गिर रहे थे। और वह सुन्दर—सलोना बच्चा पार्क में कहीं नहीं था।

◗ हरि निवास, चिरैयाटाड़ (कुम्हार टोली)
कंकड़बाग, पटना—800020

जब मैं पहली बार ससुराल गया

❑ विजय अस्थाना

पहली बार स्कूल जाने, पहली बार नौकरी पर जाने और पहली बार ससुराल जाने का आनन्द और रोमांच कुछ और ही होता है। पर पहली बार ससुराल जाने का मेरा अनुभव बड़ा ही रोचक रहा। हुआ यूँ कि शादी के बाद श्रीमती जी को पहली बार ले आना था। अतः तय यह हुआ कि मैं जाऊँ जिससे मेरा पहली बार जाना भी हो जाए और श्रीमती जी की विदाई भी हो जाए। तो जनाब तैयारी शुरू हुई। हालाँकि जनवरी का महीना था पर लोगों से अलग दिखने के लिए मेरे लिए पालिस्टर का लकदक करता कुर्ता पाजामा बना। मैं नियत समय पर ससुराल पहुँच गया। मेरे पहुँचते ही 'जीजाजी आए, जीजाजी आए' का शोर चारो–तरफ गूँजने लगा। किसी ने मेरे कुर्ते की तारीफ कर दी। फिर तो मुझे अपने पर गर्व होने लगा। यह हमेशा ध्यान रहता कि कुर्ता कहीं से तुड़–मुड़ न जाए। खैर साहब! दोपहर हुई। सास जी खाना खिलाने आईं। खाना तो कई तरह का और बहुत अच्छा बना था पर उसमें दही–बड़ा भी था जिसे मैं कतई पसंद नहीं करता। अब पहली बार मना भी नहीं कर सकता था। इसलिए मैंने सोचा इसे खाकर खत्म कर देते हैं फिर और चीजें आराम से खाएँगे। सास जी ने सोचा कि मुझे दही–बड़े अच्छे लग रहे हैं इसीलिए इसे पहले खाया। इसलिए खत्म होते ही उन्होंने मेरी कटोरी में फिर एक दही–बड़ा डाल दिया। मैंने सोचा कोई बात नहीं, इसे भी खा लेते हैं। फिर और चीजें इत्मीनान से खाएँगे। पर यह सिलसिला तो आठ बार चला। अब तो मेरी जान आफत में पड़ गई। फिर सास जी ने हाल–चाल पूछते हुए कहा"बेटा, शादी में मैं पूछ नहीं पाई कि तुम कितने भाई हो?" मैंने कहा 'सासू माँ, आज के पहले तो चार भाई थे पर आपने एक भी दही –बड़ा और खिलाया तो तीन रह जाएँगे'। खैर किसी तरह जान बची।

शाम हुई। सबका बिस्तर लग गया। मेरे पास सिल्क का एक बढ़िया ओढ़ने वाला चद्दर था। इसलिए उसे दिखाने की गर्ज से मैंने निकाला तो लोगों ने उसकी बड़ी तारीफ की। मैं फूला नहीं समाया। लोगों के पूछने पर कि चद्दर क्या गर्म भी करता है मुझे रजाई से वंचित रह जाना पड़ा। सबके खाकर सो जाने पर ठंड बढ़ने लगी। अब तो कोई चारा नहीं रहा। तभी मुझे एक कविता याद आ गई

कुकुर कुंडली मारिये, जब हो शीत प्रकोप,
नाक और घुटना मिले, जाड़ा होता लोप।
जाड़ा होता लोप, दाँत पर रखिए शासन,
रहिए नित गेडुंराव, संत का सच्चा आसन।।

फिर तो घुटना सिकुड़ता गया और धीरे–धीरे करके नाक से जा मिला। अंत में मजबूर होकर चुपके से पास की खाट पर रज़ाई में घुसना चाहा। पर उस पर सोए मेरे ससुर जी ने दुर–दुर करते हुए एक डंडा खींचकर जो मारा तो सारी ठंड आह–आह करते निकल गई। उन्हें अपनी गलती का एहसास हुआ और मुझे तुरंत यह कहते हुए एक रज़ाई मिल गई कि 'बेटा, मैं तो पहले ही कह रहा था कि ठंड ज्यादा है रजाई ले लो'। मैं तो पानी–पानी क्या बर्फ–बर्फ हो गया।

रात किसी तरह बीती। सवेरे नियत क्रिया से निवृत्त होकर नाश्ते पर टूट पड़ा क्योंकि रात को शर्म के मारे कम ही खा पाया था। इसलिए जल्दी–जल्दी में आलू की पूरी गर्मा–गर्म टिक्की मुँह में डाल लिया। पर यह तो बहुत ही गर्म थी। अब सबकी निगाहें मेरी तरफ टिकी थीं। मेरी तो स्थिति साँप–छछूंदर की हो गई। इसे न तो खा सकता था और न ही बाहर निकाल सकता था। अतः इस स्थिति से बचने के लिए मुँह ऊपर करके, ताकि भाप निकल जाए, सास जी से पूछा, "माँ जी! छत जल्दी ही बनवाई है क्या?" मेरी सास जी ताड़ गईं कि बात क्या है। अतः उन्होंने कहा, 'हाँ बेटा! बनी तो नई है पर जब तुम्हारे भपोलों (भाप) से बच जाए। तब मैं फिर बर्फ–बर्फ हो गया।

अंत में विदाई का समय आ गया। बड़ा ही मार्मिक दृश्य था। सभी भावुक हो गए थे। यहाँ तक की मैं भी। पर तभी मेरे ससुर जी ने मेरी श्रीमती जी को ढाँढस बँधाते हुए कहा, "बेटी! तू क्यों रोती है। अरे रोएगा तुझे ले जाने वाला।" और साहब! सच कहूँ तो ससुर जी की भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य निकली। पत्नी के आते ही मेरे सारे बाल, गधे के सिर से सींग जैसे गायब हो गए। मुझे पूरा विश्वास है कि जिनके भी सिर पर बाल नहीं हैं उनके साथ भी इसी तरह की भविष्यवाणी अवश्य हुई होगी।

170–बी, पॉकेट–एफ, मयूर विहार, फेस–2, दिल्ली–92

मध्यकालीन हिन्दी लोक–काव्य विधाओं का पुनरूत्थान–एक अवलोकन

❑ रणविजय राव

'मध्यकालीन हिन्दी लोक–काव्य विधाओं का जो स्वरूप तत्कालीन समय में विद्यमान था, कमोबेस वह कुछ बदले रूप में आज पुनरूत्थान की ओर अग्रसर है। समाज के बदलते लोक–व्यवहार एवं उससे उपजी सांस्कृतिक समझ एवं चेतना के साथ लोक–काव्य भी बदले हैं। इस दृष्टिकोण से उनके इस परिवर्तित रूप को समग्र रूप में समझने की आवश्यकता है। इस लगातार बदलते स्वरूप को समझने के लिए अन्य चीजों के साथ–साथ उसकी परंपराओं, प्रवृत्तियों और तौर–तरीकों की जटिल बुनावट तथा इन सबको सायास या परोक्ष रूप से प्रभावित, संयोजित और नियंत्रित करने वाली भीतरी एवं बाहरी शक्तियों की पहचान एवं उनकी साफ समझ बहुत जरूरी है। इसमें बदलते सामाजिक– आर्थिक परिदृश्य को तो कतई नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है।

मध्यकाल में लोक–काव्य के कई रूप विद्यमान थे। उस समय दोहे, कुण्डलियाँ, छप्पे, कवित्त, सवैये आदि खूब लिखे, बोले एवं पढ़े जाते थे, ये आज के समकालीन दौर में पुनः लिखे जाने लगे हैं। कई कवि इस ओर अग्रसर हुए हैं एवं मध्यकालीन लोक–काव्य परम्परा की शुरूआत उन्होंने बड़े जोर–शोर से की है। यह दूसरी बात है कि उनके विषय बदल गए हैं एवं उनका रूप भी कुछ बदला–बदला–सा है। समकालीन लोक–काव्य के दोहे–कुण्डली, सवैये, कवित्त, छप्पे आदि के विषय का केन्द्र अब वर्तमान समय के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक हैं। रोजमर्रे के जीवन की झंझटों को बड़े सलीके से सजाया–सँवारा जा रहा है इन लोक–काव्यों में। समय की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर परिवर्त्तनशीलता की गूँज तो लोक–संस्कृति में ही होती है जो वहाँ के गीतों–संगीतों, दोहों–कवित्तों में झलकती है।

मध्यकालीन स्वरूप

मध्यकाल में भारत विदेशी शासकों से आक्रांत था। वह समय तो विरोधी, संस्कृतियों, जातियों का सन्धिकाल था। देश की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति विश्रृंखलित–सी हो रही थी। उचित नेतृत्त्व के अभाव में जनता के समक्ष न कोई आदर्श था और न उद्देश्य। लोग अकर्मण्य होते जा रहे थे। साधु–संन्यासी हो जाना साधारण बात थी। इन परिस्थितियों का प्रभाव तत्कालीन समय में रचे जाने वाले लोक साहित्य एवं संस्कृति पर भी पड़ा। दोहे, कुण्डलियाँ भी इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही लिखे जाने लगे। उस समय जो परिस्थिति थी, समाज की समस्याएँ थीं, जटिलताएँ थी, इस ओर कवियों का ध्यान गया था। पर उन जटिलताओं एवं समस्याओं में और आज की परिस्थितियों में काफी अंतर है।

मध्यकालीन कवियों के लोक–काव्य में भक्ति पर विशेष जोर दिया गया। इनकी भाषा अवधी थी; दोहा, चौपाइयों तथा कुण्डलियों में इनकी रचना हुई थीं। तत्कालीन समय में हिन्दू–मुसलमानों के बीच सौहार्द कायम करने वाली ढेरों रचनाएँ रची गईं। महात्मा कबीर और आज से करीब 700 वर्ष पूर्व हुए खुसरो ने अपने दोहों और मुकरियों द्वारा जनता का खूब मनोरंजन किया। उन्होंने जन–साधारण की बोलचाल की भाषा को अपना माध्यम बनाया। अनपढ़ होते हुए भी अपने अनुभवों के आधार पर कबीर ने हिन्दी लोक–काव्य की जो सेवा की, वह अमूल्य है। समाज में विद्यमान दंभ, पाखंड, वैमनस्यता, स्वार्थ– इन सब दुर्बलताओं का उन्होंने जोरदार विरोध कियाः–

माला फेरत जुग गया, मिटा न मन का फेर।
करका मनका डारिके, मन का मनका फेर।।

पर अशिक्षित आम जनता की भावनाओं को लोककाव्य में शायद ही कहीं स्थान मिला। शिक्षा और भाषिक अभिव्यक्ति क्षमता से वंचित आम जनता में चिंतन और वैचारिक क्रांति की न सामर्थ्य थी और न अवसर ही था। उन्हें धर्मभीरू, रूढ़िवादी और कुंठित बना दिया गया।

कोऊ नृप होहीं, हमें का हानि।
चेरी छोड़ि हम होब न रानी।।

ऐसी मनःस्थिति के कारण ही राष्ट्र गूंगा, नपुंसक और क्लीव अवस्था को प्राप्त होता गया, जिसकी वजह से आम जनता की प्रतिरोधात्मक क्षमता नष्ट होती गई और नई लोक–संस्कृति नहीं विकसित हो पाई।

<u>क्रमबद्ध बदलाव :</u>

मध्यकाल के बाद जैसे–जैसे समय बदला उसके अनुरूप छुप्पे, दोहे, कुण्डली, सवैये, सतसई, कवित्त आदि के रूपों में परिवर्त्तन होता गया। कुछ तो बिल्कुल लुप्त हो गए और जो विद्यमान रहे उनमें बदलाव देखा गया। इससे भाषा, लोक काव्य एवं लोक–संस्कृति का विकास एवं प्रवाह प्रभावित हुआ। इस दौरान कई नाट्य शैलियाँ भी प्रचलित हुईं जिनमें लोक–काव्य एवं लोक–संस्कृति पर जोर दिया गया। लोक–नाटक की कई पद्धतियाँ प्रचलित हुईं और उनमें लोकगीतों का भरपूर इस्तेमाल किया गया। कुछ शैलियों के संक्षिप्त रूप निम्नवत् हैंः–

<u>रामलीला :–</u> इसके प्रधान केन्द्र बनारस और अयोध्या हैं।

पूरब में मिथिला और पश्चिम में अलीगढ़, मेरठ तथा दिल्ली तक इसका प्रसार है। लोकजीवन के सहज अकृत्रिम नाट्यमंच के रूप में रामलीला की बड़ी महिमा है। चौपाइयों के साथ–साथ लीला का कथानक आगे बढ़ता रहता है। इसकी परम्परा मध्यकाल के बाद विकसित हुई।

रासलीला : पश्चिमी उत्तर–प्रदेश के ब्रजलोक में इसका विशेष प्रचार है। मथुरा, वृन्दावन इसके प्रधान केन्द्र माने जाते हैं। लोक–प्रचलित नृत्य–गीत प्रधान नाटक के रूप में रासलीला की परम्परा सोलहवीं शताब्दी से अविच्छिल भाव से चली आ रही है।

नौटंकी : मध्यकाल के बाद नौटंकी लोकनाट्य शैली के रूप में प्रचलित हुई। ग्रामीण और कभी–कभी नगरीय जीवन में भी मेले–तमाशे के अवसर पर नौटंकी के आयोजन की विशेष व्यवस्था की जाती है। संवाद पद्यात्मक और गेय होते हैं। केवल अशिक्षित ही नहीं बल्कि शिक्षित ग्रामीण जनता भी ऐसे नृत्य–गीत–प्रधान अभिनय में बड़ा रस लेती है।

विदेशिया: पश्चिमी बिहार तथा पूर्वी उत्तर–प्रदेश की लोकप्रिय नाट्यशैली के रूप में विदेशिया का स्थान महत्वपूर्ण है। आरा, बलिया, देवरिया आदि जिलों में इसका विशेष प्रसार है। 'बिदेसिया' दरअसल लौकिक गीत–नाट्य है जिसमें संगीत और नृत्य के साथ इसी नाम के गीत गाए जाते हैं।

इसी तरह क्रमबद्ध बदलाव के अंतर्गत कई प्रदेशों में खासकर हिन्दी प्रदेश में लोक काव्य प्रधान कई नाट्य शैलियाँ प्रचलित हैं।

ऋतुओं के हिसाब से ऋतु–पूर्वों के अवसर पर गाए जाने वाले बहुत सारे लोकगीत भी काफी लोकप्रिय हैं। फगुआ या फाग, होरी, रसिया, चैता या चैतावर, कजरी, चौमासा, मल्हार आदि सभी ऋतु–पर्व के ही गीत हैं जो विभिन्न प्रदेशों में लोकप्रिय हैं। ये सब गीत आज भी गाए जाते हैं एवं समकालीन काव्य की शोभा में श्रीवृद्धि कर रहे हैं।

ऋतु पर्व के गीतों की तरह **श्रमगीत** भी जन साधारण के बीच काफी लोकप्रिय हैं। परिश्रमी मजदूर को गीत गाने से एक प्रकार की शक्ति एवं स्फूर्ति मिलती है। श्रम और संगीत का संबंध बड़ा मनोवैज्ञानिक है। **'सोहनी'** और **'रोपनी'** के गीत कृषक समाज के गीत हैं। इनके अलावा और भी बहुत तरह के गीत कई प्रदेशों के अंचलों में गाए जाते हैं।

समकालीन स्वरूप :

मध्यकाल की तुलना में लोक–काव्य के वर्तमान स्वरूप में काफी भिन्नता नजर आती है। आज निम्न वर्ग प्रतिक्रियावादी हो गया है जबकि मध्यकाल में वह चुप था। इस परिवर्तन की अनुगूँज लोक–संस्कृति को छोड़कर भला और कहाँ मिल सकती है!

आज पुनः मध्यकालीन छप्पे, दोहे, कुण्डलियाँ, सतसई, कवित्त आदि लिखे जाने लगे हैं। पर जैसा कि उपर कहा गया, उनके विषय बदल गए हैं, उनका केन्द्र बदल गया है, कहावतों, लोकोक्तियों, लोकगीतों एवं भजनों को समसामयिक संदर्भ में रचा गया। सुखदेव भगत ने बलिया, गाजीपुर, बिहार के शाहाबाद, छपरा इत्यादि स्थानों में भ्रमण कर गरीब एवं पिछड़ी जाति के लोगों को उपदेश दिया। ये जो 'कवित्त' कहते थे उसमें जो राष्ट्रवाद प्रतिध्वनित हो रहा था, उसमें अंग्रेजों को खदेड़ भगाने के अलावा अपनी परंपरागत एवं सामाजिक भेदभाव के प्रति एक आलोचनात्मक रवैया भी निहित था।

'उजर सांढ़ आईल, अउ सौंसे बलिया चरि गईल।'

यहाँ सांढ़ लोक मानसिकता का अत्यंत भयावह बिम्ब है। शाहाबांद जिले में जन्में कवि कैलाश अपनी शिक्षा के बारे में कहते हैं:

पहाड़ा पढ़ ली आठ,
पीठ प बाजल काठ,
जाके धइली लाठ।

यह तुकबन्दी न केवल उनकी शिक्षा के बारे में बताती है बल्कि समकालीन स्थितियों पर करारा व्यंग्य भी करती है। 'बिरहा' की उत्कृष्ट प्रस्तुति के लिए आज बालेसर यादव पूरे मध्य, पश्चिमी और पूर्वी उत्तर–प्रदेश के क्षेत्र में काफी लोकप्रिय हैं।

पंडवानी : आज के दौर में छत्तीसगढ़ के लोकगायन पंडवानी की अद्‌भुत विरासत को अपनी आवाज और अभिनय के बल पर सारी दुनिया में पहुँचा रही हैं तीजन बाई। जैसे ही तीजन अपनी सम्मोहक आवाज में महाभारत की इन गाथाओं को लोगों के सामने पेश करती हैं, तो सब कुछ जैसे थम जाता है। हर व्यक्ति सम्मोहित–सा, ठगा–सा, जैसे महाभारत की इन कहानियों में ही लीन हो जाता है। तीजन बाई ने देश ही नहीं बल्कि यूरोप और एशिया के कई अन्य देशों में जाकर अपने कार्यक्रम प्रस्तुत किए हैं।

आज ग्रामीण जन–जीवन पर आर्थिक दबाव बढ़ा है। दैनिक जीवन की मारा–मारी ने अस्तित्त्व के संघर्ष में आराम के लिए एवं लोकधुन में रचने–बसने के 'स्कोप' को सीमित कर दिया है। राजनीति की चर्चा विविध रूप में गाँव की चौपालों में हावी होती चली गई है। बढ़ते औद्योगिकीकरण एवं दिनोंदिन ग्रामीण भारत की उपेक्षा ने उन्हें शहरोन्मुख होने को प्रेरित किया है। इस प्रवृत्ति ने ग्राम–जीवन के विखंडन को बढ़ावा दिया है। फलस्वरूप मध्यकालीन हिन्दी लोक–काव्य के पुनरूत्थान की जो प्रक्रिया समकालीन समय में आरंभ हुई है, उसका स्वरूप बदला–बदला सा है। इसी संदर्भ में बिहार के मगही, भोजपुरी, एवं मैथिली भाषी क्षेत्रों, छत्तीसगढ़ से लेकर कुमाऊँ तक एवं नर्मदा से लेकर आंध्र तक के उद्वेवलनों को समझने की जरूरत है।

1168, सेक्टर–23ए, गुड़गाँव, हरियाणा।

आस्था

❑ सरिता शर्मा

वह अस्पताल में महीने भर से भर्ती थी। निमोनिया ठीक होने में बहुत समय लग रहा था। रोज–रोज इंजेक्शन लगते थे जो हाथ में कैनुला लगाकर नस में लगाये जाते थे। बार–बार कैनुला बदलने से हाथ में सूजन हो गयी थी और नस ढूँढना कठिन हो गया था। कई नर्सें जगह–जगह पिक करके थक जातीं लेकिन कैनुला लगाने में कामयाब नहीं हो पातीं।

एक सिस्टर थी आयशा। वह कोशिश करती रहती जब तक कैनुला न लगा लेती। एक दिन तो हद हो गयी। सुबह–सुबह एक घंटे तक कोशिश करने के बाद भी कैनुला नहीं बना तो वह उसे छत पर खुले आसमान के नीचे ले गयी। आसमान में देखकर बोली–"या खुदा, मदद कर। तुझे मेरी मदद करनी पड़ेगी। तू मेरी मदद करेगा। जरूर करेगा।" तभी आसमान से बूँदें गिरीं। पाँच मिनट हल्की बारिश हुई और कैनुला लग गया। सिस्टर आयशा ने अल्लाह का शुक्रिया अदा किया।

"यह अल्लाह का चमत्कार था या आयशा की आस्था का?" वह देर तक इसी खयाल में खोई रही।

साझा अतीत

❑ सरिता शर्मा

लाहौर जाने का अवसर अचानक मिल गया। कंप्यूटर पर चैट करते–करते एक महिला डॉक्टर से मित्रता हो गयी थी। उसने अपनी शादी का निमंत्रण पत्र भेजा तो पाकिस्तान के लिए वीजा मिल गया।

वह लाहौर विवाह से कुछ दिन पहले ही पहुँच गई। लाहौर शहर में घूमने का कार्यक्रम बनाया। इच्छरा और अनारकली बाजार से सूट खरीदे। फूड स्ट्रीट में विभिन्न व्यंजन चखे। गुरुद्वारे गयी और बुल्ले शाह के मजार पर भी। अंततः लाहौर यूनिवर्सिटी और संग्रहालय पहुँची। संग्रहालय में विभिन्न कालों का चित्रण था। पाकिस्तान की उपलब्धियों और कलाओं पर विशेष बल दिया गया था। विभाजन के बाद पाकिस्तान के विभिन्न नेताओं और जननायकों का उल्लेख था। जिन्ना की कुछ तस्वीरें गाँधीजी ओर नेहरू के साथ थीं। लेकिन विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान का स्वतंत्र अस्तित्व नजर आ रहा था। मुस्लिम प्रधान समाज और भाषा मुख्यतः उर्दू।

मगर संग्रहालय में जब प्राचीन पाकिस्तान का खंड आया तो वह चौंक पड़ी। गुप्त काल, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, मुगल काल और फिर अँग्रेज़ों की हुकूमत।

उसे लगा, वह दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में खड़ी है।

चोरी

❑ सरिता शर्मा

कितना भयानक स्वप्न था वह। किडनी ट्रांसप्लांट करके वह कल ही चेन्नई से लौटा था। एक सूनामी पीड़ित निर्धन ने दो लाख रुपये के बदले अपना एक गुर्दा दान करके उसे नया जीवन दिया था। रात को जैसे ही सोया, उसने देखा खिड़की के बाहर एक बक्सा पड़ा है जिसके अंदर का सामान देखने की उसे उत्सुकता हुई। अचानक बक्सा खुला और कुछ सामान, घड़ी, कुछ रुपये और कपड़े आदि बाहर बिखर गए। एक बच्चा, उसकी माँ और दादी, वहाँ आये और उसे कहने लगे– "तुमने चोरी की है। बक्सा खोला है।"

वह सफाई देता रहा–"देखो, मेरे पास कुछ नहीं है। तलाशी ले लो। घड़ी, पैसा सब कुछ तो यहीं पड़ा है।" लेकिन बच्चा बोला–"मैंने तुम्हें चोरी करते देखा है।"

दादी बोली–"हाँ–हाँ तुम चोर हो।" वह परेशान होकर कहने लगा–"तुम्हारा दिमाग खराब है। मेरा इतना बड़ा बिजनेस है। महीने में लाखों की कमाई है। कितने लोग मेरे लिए काम करते हैं। मैं भला तुम्हारा क्या चुराऊँगा।"

लेकिन अब बच्चे की माँ बोल पड़ी– "चोर कभी कबूल नहीं करता। उसे शर्म भी नहीं आती।"

वह अनेक दलीलें देता रहा पर वह गरीब परिवार किसी तरह मान ही नहीं रहा था।

आखिरकार उसकी आँख खुली और उसने चैन की साँस ली। शुक्र है वह दुःस्वप्न था। फिर उसने सोचा– 'आखिर यह चोरी का मामला क्या है?' अचानक मन में डोनर का चेहरा उभरा और वह पसीने से तरबतर।

◗ मकान नं.–1975, सेक्टर–4, अर्बन इस्टेट, गुड़गाँव–122001

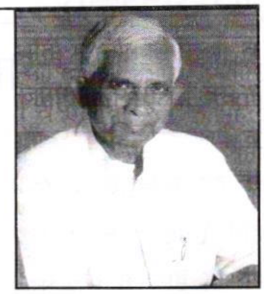

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर : जिन्होंने भारतीय संस्कृति को नया रूप दिया

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की वर्ष 2010 में 150वीं जयंती के अवसर पर जब हम उन्हें याद करते हैं, तो उनके बचपन से लेकर महाप्रयाण तक की सारी स्मृतियाँ जीवंत हो जाती हैं। शांति निकेतन के निर्माण संबंधी उनकी भावनाएँ, विश्वभारती के विश्वविद्यालय के रूप में स्थापित होने की घटना सभी एक साथ मानस-पटल पर उभर आते हैं।

वेदना से कविता का आदिकालीन रिश्ता कविगुरु के साथ भी दुहराया गया है। सन् 1902 में पत्नी मृणालिनी व अगले साल जवान पुत्री रेणुका की मौत से उपजी दुःखद मनःस्थिति में कवि टैगोर ने सन् 1903 में सुप्रसिद्ध गीत *'केनो रे एई दुआर टुकु पार होते संशय . . . . .'* लिखा। केवल 24 वर्ष की अल्पायु में गीत *'पुरानो सेई दिनेर कथा. . . . . .'* लिखा। गीत की चर्चा के वक्त रवीन्द्रनाथ की **'गीतांजली'** की चर्चा हम न करें तो यह चर्चा अधूरी रहेगी। इस अमरकृति के लिए उन्हें सन् 1913 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार मिला। इस संबंध में खास बात यह है कि 2010 में ***'गीतांजली'*** की रचना के सौ साल पूरे हुए हैं।

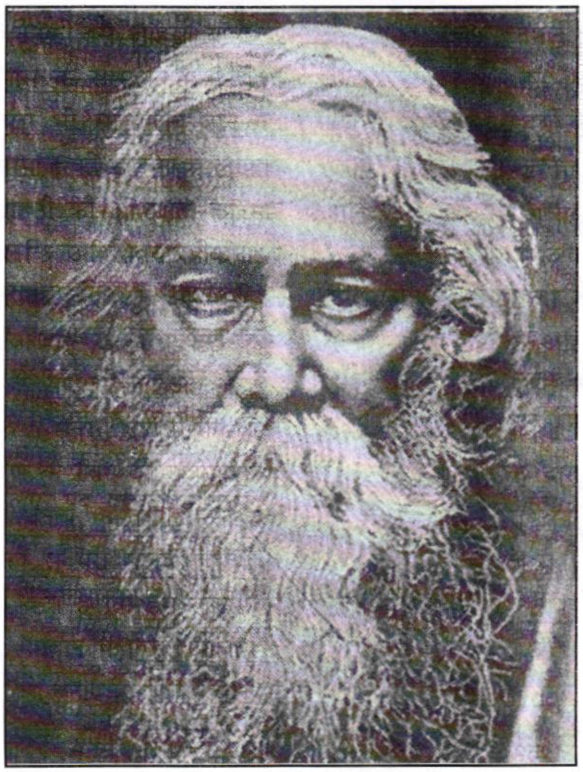

जहाँ तक गुरुदेव के नाटकों, लघु कथाओं, लेखों व उपन्यासों का संबंध है, ***'बौ ठाकुरानीर हाट'*** में चाहे पारिवारिक जीवन हो, ***'चोखेर बाली'*** में मानव संबंधों की जटिलता चाहे ***'गोरा'*** में अँग्रेज-भारतीय संघर्ष हो या ***'शेषेर कविता'*** की सामाजिक अखंडता, गुरुदेव की कलम जीवन के समस्त आयामों को समेटने में सफल रही। उन्होंने अपनी पहली रचना 16 साल की उम्र में लिखी जो ***'भिखारिनी'*** कहानी थी। उन्होंने ***'चंडालिका', 'विसर्जन', 'वाल्मीकि प्रतिमा'*** आदि नाटक भी लिखे। उनकी अपनी मृत्यु की आशंका से प्रेरित एक नाटक ***'डाकघर'*** था, तो ***'विसर्जन'*** की मंच प्रस्तुति में उन्होंने स्वयं अभिनय भी किया था।

दृष्टि से उपर भी देखने की एक धारा है जो हमारी चेतना को जगाता है। यह है चित्र जगत। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर का मानना था कि अधिकांश लोग ठीक से देख नहीं सकते। उन्हें प्रत्यक्ष देखने का आनंद देने के लिए चित्रकारों का जन्म होता है। भतीजे अवनिद्रनाथ ठाकुर के चित्रों को देख गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर रेखाओं के संसार की ओर आकर्षित हुए। वे एक दिन में तीन-चार चित्र बना लेते थे, ठीक उसी तरह जैसे तीन-चार गीत तैयार कर लेते थे। इस प्रकार भारतीय संस्कृति को उनके द्वारा एक नया रूप मिला।

सन् 1941 के जुलाई में स्वास्थ्य खराब होने पर गुरुदेव को बेलापुर से कोलकाता स्थित जोड़ा सांकी के ठाकुरबाड़ी लाया गया। बचपन में जिस बेलापुर आने के लिए उन्होंने पहली बार रेलगाड़ी में सफर किया, उसी बेलापुर से कोलकाता का यह सफर उनकी अंतिम रेलयात्रा साबित हुई। 7 अगस्त 1941 को उन्होंने यहीं अपनी अंतिम साँस ली। लेकिन जाते-जाते इस महान रचनाकार ने उखड़ती साँसों के सहारे ही एक रचना *'तोमार सृष्टिर पथ रेखोछे आकीर्ण'* कर दी।

गुरुदेव का पटना से पुराना रिश्ता रहा है। पहली बार वे

यहाँ 16 मार्च, 1936 को आए थे। उन्होंने भागलपुर, मुँगेर, गया, मुजफ्फरपुर एवं गिरीडीह की यात्रा की थी। सन् 1948 में ही राजधानी पटना में उनकी स्मृति में रविन्द्र परिषद की स्थापना की गई थी। तब से आजतक यह गुरुदेव के बताए रास्ते पर चलकर रविन्द्र संस्कृति बिखेर रही है।

गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर इस देश के एक ऐसे साहित्यकार हुए जिन्होंने भारतीय साहित्य, संस्कृति, कला और समाज को अनुकरणीय दिशा-दृष्टि दी। इसलिए उन्हें केवल बांग्ला का साहित्यकार मानना उनके प्रभाव और योगदान को कम करके देखना है। हाँ, इतना जरूर है कि गुरुदेव ने बंगाल के नवजागरण को अखिल भारतीय नवजागरण की प्रक्रिया से जोड़ने का प्रयास कर उसे विस्तार दिया। बंगाल नवजागरण को हिंदू नवजागरण से जातीय नवजागरण की ओर उन्मुख करने में उनकी इस मायने में महती भूमिका रही है कि टैगोर से पहले के नवजागरण में भारतमाता की जगह बंग माता का प्रयोग होता था। बंगाल के सुप्रसिद्ध साहित्यकार बंकिमचंद्र चटर्जी भी प्राय: बंगाल चेतना तक सीमित थे। बंगाल नवजागरण अपने आरंभिक दौर में हिंदू नवजागरण अधिक था। 19वीं सदी के मध्य में बंगाल में आयोजित मेला को पहले हिंदू मेला कहा जाता था जिसे टैगोर के आने के बाद जातीय मेला कहा जाने लगा। यही नहीं उन्होंने समाज के सवालों से राष्ट्रीय नवजागरण को जोड़ा, मुसलमानों को जोड़ने का प्रयास किया और अपनी रचनाओं के माध्यम से किसानों, स्त्रियों और दलितों की समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया तथा इस रूप में राष्ट्रीय आंदोलन की दृष्टि का विस्तार किया।

रवीन्द्रनाथ टैगोर जनता के कवि थे। पराधीन भारत में उन्होंने गरीब किसानों के जीवन स्तर को बेहतर बनाने के सोच को जिस प्रकार कार्यान्वित किया, वैसा कार्य उस समय किसी ने नहीं किया। इस कार्य ने उनकी प्रतिभा को ऊर्जस्वित किया। टैगोर भारतीय ज्ञान परंपरा और शिक्षा को बहुत महत्त्व देते थे। भारतीय परंपरा के अनुरूप शिक्षा को विकसित करना उनका महान उद्देश्य और सपना था। इसके लिए उन्होंने प0 बंगाल में शांति निकेतन की स्थापना की जहाँ शिक्षा को लेकर उन्होंने सिर्फ-सैद्धांतिक बातें नहीं की, बल्कि व्यावहारिक धरातल पर उसे ठोस रूप देने का प्रयास भी किया।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बांग्ला साहित्य को भारतीय साहित्य से जोड़ने का प्रयास किया। वस्तुत: वे भारतीय साहित्य और बांग्ला साहित्य के बीच महत्त्वपूर्ण कड़ी थे। उन्होंने कबीर की कविताओं का अँग्रेजी अनुवाद किया। सूर और तुलसी पर कविताएँ भी लिखीं। विद्यापति से भी वे काफी जुड़े रहे। उस वक्त विद्यापति मैथिली से अधिक बांग्ला के ही कवि माने जाते थे। टैगोर ने कुछ कविताएँ ब्रजबोली में भी लिखीं। हिंदी को बांग्ला से जोड़कर एक तरह से उन्होंने हिंदी के महत्त्व को नए सिरे से रेखांकित किया।

कवि रविन्द्रनाथ टैगोर भारतीय अस्मिता, प्रखरता एवं सांस्कृतिक गरिमा के कवि थे। मानवीयता, राष्ट्रीयता एवं सहजता उनके काव्य का प्रमुख स्वर है। जीवन के प्रति उनकी आश्वस्ति सूर्योदयी तेजस्विता की प्रतीति है। भारतीय स्वाधीनता संग्रामियों को प्रेरणा और प्रोत्साहन देने वाले विश्वकवियों में वह अकेले और अद्वितीय हैं। वह अति सहज भाव से निम्न पंक्तियों में उन्हें बार-बार स्मरण दिलाते हैं:-

इस अभागे देश में, हे नाथ मंगलमय
करो तुम दूर सब भवजाल ओछे
छिन्न कर दो लोक से, नृप से, मरण से भीतिका जंजाल
चूर्ण-विचूर्ण कर दो, रुद्र, वह पाषाण का-सा भार
दुर्बल-दीन स्कंधारूढ़ चिर वेषणव्यथा की मार

गुरुदेव को मानव की जय यात्रा पर अखंड विश्वास है। वह युग द्रष्टा हैं और जीवन की उच्छल प्राणधारा में अडिग विश्वास की छवि देखते हैं। उनकी देशभक्ति असंदिग्ध रूप से भारतमाता का शाश्वत अभिनंदन है। कवि की **'दिव्य स्वातंत्र्य'** शीर्षक रचना में जागरण का निम्न स्वर प्रस्फुटित हुआ है:--

जहाँ हृदय में निर्भयता है, और मस्तक अन्याय के,
सामने नहीं झुकता, जहाँ ज्ञान का मूल्य नहीं लगता ।

'माटी-मंदिर' टैगोर की सर्वाधिक चर्चित रचना है जिसमें वह भक्त के पूजन-आराधन से अलग हटकर कृषक एवं श्रमिक में भगवान के दर्शन पाते हैं:--

प्रभु तो वहाँ जहाँ मिट्टी को कृषक स्वेद से सींच रहा,
शिला तोड़कर श्रमिक जहाँ पर पथ की रेखा खींच रहा ।

कवि गुरुदेव ने हिंदी के उत्कर्ष के लिए शांति निकेतन में हिंदी भवन की स्थापना की। हिंदी के प्रति उनका गहरा अनुराग था, क्योंकि वह जानते थे कि यह भारत के कोटि-कोटि निवासियों के सुख-दुख की भाषा है जिसे संस्कृत, प्राकृत, अरबी-फारसी और अँग्रेजी भाषाओं की सान्निध्य-शक्ति मिली, लोकवाणी है। वह अपने जीवन में बहुत दुखी थे, क्योंकि शासकों ने हिंदी को आदरपूर्वक विश्वविद्यालय शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया था। उन्होंने बड़े दुखी मन से कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपाधि वितरण समारोह पर प्रार्थना की थी:-- *'मैं अपनी प्यासी*

मातृभाषा की तरफ से अपने ही देश के विश्वविद्यालय के द्वार पर खड़ा चातक के समान उत्कंठित वेदना के साथ प्रार्थना करता हूँ। तुम्हारे ब्रजभेदी शिखर को घेरे हुए जो पुंज के पुंज श्यामल मेघ घूम रहे हैं, उनका प्रसाद आज फलों और शस्यों पर बरसने दो, पुष्पों और पल्लवों से वसुंधरा सुंदर हो उठे; मातृभाषा का अपमान दूर हो। युग शिक्षा की उमड़ती हुई धारा हमारे चिंतन की सूखी नदी के रेतीले मार्ग से बाढ़ के समान बह निकले। दोनों तट पूर्व चेतना से जाग उठें, घाट-घाट पर आनंद ध्वनि मुखरित हो उठे।'

दरअसल, रवीन्द्रनाथ टैगोर का व्यक्तित्व जितना बड़ा था, उनकी कविताओं का उतना ही व्यापक प्रभाव पड़ा। उनकी रचना **'घरेल बाहरे'** से बहुत समय तक जैनेन्द्र की 'सुनीता' से तुलना होती रही। उनके पचास से अधिक कहानी संग्रह, सौ से अधिक लघु कहानियाँ, बारह उपन्यास, तीस से अधिक नाटक, दो सौ से अधिक निबंध और तकरीबन दो हजार कविताएँ आज भी जीवंत स्रोत के रूप में हमारा मार्गदर्शन कर रही हैं। रचनाकारों को उन्हें इस रूप में भी याद करना चाहिए कि बड़ा रचनाकार वही होता है जो अपने समय की समस्याओं, चुनौतियों, विसंगतियों, विद्रुपताओं, दुविधाओं तथा दबावों आदि से जूझते हुए अपनी चेतना निरंतर विकसित करता है। हिंदी साहित्य के महान कवि **सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'** ने कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रतिभा को रेखांकित करते हुए लिखा:-*"रवीन्द्रनाथ अपने भाव की निःस्वार्थ प्रेरणा से संसार को पुकार कर जागरण का संगीत सुन रहे हैं। यदि कुछ और तह तक पहुँच कर कवि की इस पुकार की छान-बीन की जाए, तो हम देखेंगे कि यह कवि की उसी प्रतिभा की पुकार है . . . . यह निर्जीवों को जिला देने के लिए, पद-दलितों में उत्साह की आग भड़काने के लिए, नग्न हृदयों को आशा की सुनहरी छटा दिखााने के लिए सदा ही ज्यों कि त्यों बनी रहेगी। यह अपने आनंद की ध्वनि है, किंतु इसमें दूसरे भी अपना प्रतिबिंब देख लेते हैं। . . . . इससे देश का भी कल्याण होता है और विश्व का भी। यही इसकी विचित्रता है और यही इसका सौंदर्य-अनूठापन।"*

भारतीय आकाश में विजय शब्द को गूँजने का स्वप्न कवि गुरु रवीन्द्रनाथ ने देखा। इसी स्वप्न ने उन्हें विश्व स्तर पर उत्पीड़ितों-वंचितों के पक्ष में खड़ा किया। मानवतावाद का इतना बड़ा आह्वान और कहीं दूसरी जगह देखने को नहीं मिलता है। लेखकीय कर्तव्य के संबंध में रवीन्द्रनाथ का आह्वान अपने आप में बेमिसाल और अतुलनीय है। उनकी रचनाएँ साम्राज्यवाद, फासीवाद और सामंतवाद के खिलाफ शंखनाद करती है। इस महान कवि ने जापान के फासिस्ट नागची की सिर्फ कड़ी भर्त्सना ही नहीं की बल्कि उन्होंने फासिस्ट आतंक के विरुद्ध विश्व प्रेम का संदेश दिया। वे न तो शुद्ध राष्ट्रवाद के समर्थक थे और न उग्र राष्ट्रवाद के। वे सभ्यताओं और राष्ट्रों के बीच संघर्ष की जगह सहयोग के पक्षधर थे। इस मसले पर महात्मा गाँधी के साथ उनकी मतभिन्नता जगजाहिर है। राष्ट्रवाद पर उनके वक्तव्यों का संग्रह पुस्तक के रूप में आ चुका है। उनका **'गोरा'** उपन्यास राष्ट्रीय नवजागरण के दौरान शुद्धता और अशुद्धता के प्रश्न को जोरदार ढंग से उठाता है। उनका मानना है कि शुद्धता के आधार पर कभी-भी बेहतर राष्ट्र का निर्माण संभव नहीं है।

कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें सच और अनुभव को कहने का ऐसा साहस था जो बहुत कम लोगों में होता है। वे अपने विचारों को अभिव्यक्त करने में कभी पीछे नहीं रहे। इस संदर्भ में गाँधी के साथ उनका मतभेद सबसे सुंदर उदाहरण है, हालांकि गाँधी के प्रति उनके मन में काफी सम्मान था। गाँधीजी को महात्मा कहकर टैगोर ने ही संबोधित किया था। बावजूद इसके उन्होंने असहयोग, अवज्ञा जैसे राष्ट्रवाद की गाँधीवादी अवधारणा के प्रति अपने असंतोष और असहमति को बिना संकोच अभिव्यक्त किया।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जिस संग्राम का उद्घोष किया है उस संग्राम में अशांति नहीं शांति नजर आती है। यह बिना अस्त्रों की लड़ाई और सत्य की विजय है। इससे अमीरों का धन-दर्प चूर्ण हो जाता है। उन्होंने हमेशा जनता से अटूट संबंध स्थापित करने पर जोर दिया, तभी तो उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ के दूसरे अधिवेशन में लिखित संदेश में कहा था:-- *"जनता से अलग रहकर हम बिल्कुल अजनबी बन जाएँगे, साहित्यकारों को मनुष्यों से मिलजुल कर उन्हें पहचानना है। . . . . मेरी चेतना का तकाजा है कि मानवता और समाज से लगाव रखना चाहिए और प्रेम करना चाहिए। अगर साहित्य मानवता से तादात्मय स्थापित न कर सका, तो वह अपने तक्ष्य और आकांक्षाओं को पाने में विफल रहेगा। यह सत्य मेरे दिल में उस चिराग की तरह रोशन है, जिसे कोई दलील या तर्क-वितर्क बुझा नहीं सकता।"* कवि रवीन्द्र की वाणी का यही ओज है जिसने साम्राज्यवाद के विरुद्ध आम लोगों में जागरूकता उत्पन्न की। उनकी राष्ट्र भावना और विश्वभावना के अंतर्गत विश्व मानव का दर्शन होता है। उनकी संवेदनशीलता असीम है। मानव के प्रति अपरिसीम स्नेह उनके हर शब्द में संचित है। अत्याचार चाहे अपने देश में हो या विदेश में उनकी लेखनी प्रश्न उठाने

को बाध्य हुई और उत्पीड़ितों के पक्ष में वे उठ खड़े हुए। यही कारण हैं कि उन्होंने उपनिवेशवाद, वर्णविद्वेष अँधराष्ट्रवाद, युद्ध और हमलावर नीतियों के विरुद्ध न केवल संघर्ष की घोषणा की, बल्कि पूरी दुनियाँ में मानव सभ्यता विरोधी और इस तरह की असंख्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध अनवरत संघर्ष करने की एक ऐसी फौज तैनात की, जिसकी जय यात्रा कभी नहीं रुकेगी। उल्लेख्य है जिस वक्त स्पेन, चीन, अबीसीनिया और चेकोस्लोवाकिया में जिस प्रकार फासिस्टों के हमले हो रहे थे, उन हमलों के खिलाफ विश्व स्तर पर मानवता एकजुट होने की आवाज दे रही थी, महान चिंतक रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उस समय **'लीग एगेनस्ट फासिज्म एंड वार'** की भारतीय शाखा की अध्यक्षता करते हुए फासीवाद के खिलाफ आम लोगों से एकजुट होने का आह्वान किया। अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न, लूट-शोषण और आतंक के विरुद्ध रवीन्द्रनाथ ने जो समझौताहीन संग्राम शुरू किया था, आज जब पूरी दुनिया में आतंकवाद और नक्सलवाद का साम्राज्य है, उनकी इस पहल को बार-बार याद करने की आवश्यकता है। उनका मानना था कि पूँजीवाद से ही वर्गीय विषमता फैलती है इसलिए पूँजीगत वर्गीय विषमता दूर होने से ही सही रूप में मानव-मर्यादा की स्थापना होगी। स्वदेश की कल्याण-कामना ही उनकी महत्ता है। जालियाँवाला बाग की वजह से उन्होंने नाईट की पदवी लौटा दी। इस अवसर पर 29 मई, 1919 को एक खुली चिट्ठी लिखते हुए **उन्होंने** कहा:--**''मैं अपने संबंध में यह कहना चाहता हूँ कि जो स्वदेशवासी असहाय, अकिंचित और असम्मान बर्दाश्त कर रहे हैं, मैं उनके साथ सारे सम्मान को त्याग कर खड़ हूँ।''** इसी तरह जब अक्टूबर, 1924 में सुभाष चंद्र की गिरफ्तारी होती है, तब कवि **रवीन्द्रनाथ टैगोर** ने दिजेन्द्रनाथ को पत्र लिखते हुए कहा था कि **जो भय को मानता है वही भय को जिंदा रखता है। जो मृत्यु से बचना चाहता है, मृत्यु भी उसे खींचती है। जो मृत्यु के लिए अपना हृदय खोल देता है, वही बचना जानता है।** **'सत्य का आह्वान'** शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा--**''मनुष्य के अंतःकरण का धर्म यही है कि वह परिश्रम से केवल सफलता नहीं, बल्कि आनंद भी प्राप्त करता है।''** आज के दौर में कवि व चिंतक रवीन्द्रनाथ टैगोर का मूल्याँकन संघर्षशील व्यक्तियों को एक नई दिशा देगा। इसलिए समय की माँग है कि उनकी वाणी और अभिव्यक्ति को जन-जन तक पहुँचाया जाए तथा उनके साहित्य की चर्चा में अधिक से अधिक लोगों को शामिल करने का प्रयास किया जाए, क्योंकि आज विश्व मानवता खतरे में है जिसकी रक्षा के लिए कवि रवीन्द्र जी के बताए रास्ते पर चलना समीचीन होगा।

कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का लिखा गीत **'जन गण मन अधिनायक जय हे, भारत भाग्य विधाता . . . . . .'** को इस देश की संसद ने बहुमत से राष्ट्रगान के रूप में स्वीकार किया। अनेक सांसदों का मत था कि **'वंदे मातरम'** गीत, जो बांग्ला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार बंकिमचंद्र चटर्जी के बहुचर्चित उपन्यास **'आनंदमठ'** में आया है, को राष्ट्र गीत का स्थान दिया जाए । इस गीत को राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बंग-भंग आंदोलन के समय प्राप्त हुई। देश के मुस्लिम समुदाय के द्वारा **'वंदे मातरम'** गीत का प्रारंभ से विरोध होने लगा था। उनका तर्क यह था कि इस गीत में दुर्गा, सरस्वती और लक्ष्मी आदि देवियों की स्तुति की गई है जो इस्लामी सिद्धांतों के अनुकूल नहीं है। इन्हीं अनेक कारणों से कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर लिखित गीत 'जन गण मन . . . . . ' को राष्ट्रगान के रूप में स्वीकार किया गया। इस गीत की रचना कवि गुरु टैगोर ने सन् 1911 में की थी। टैगोर ने इसे भारत की विविध सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में देखा था, न कि बाद में बनी भौगोलिक इकाइयों के रूप में।

यह धारणा भी बहुप्रचलित है कि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यह गीत सम्राट जार्ज पंचम के दिल्ली आने पर उनकी प्रशस्ति में लिखा था। टैगोर के जीवन काल में ही उनसे यह प्रश्न पूछा गया था। उसे समय उन्होंने इसका पूरी तरह प्रतिवाद किया था। उनके अपने शब्दों में:-- **''जो लोग मुझे इतना बड़ा मूर्ख समझते हैं कि मैं जार्ज चतुर्थ या पंचम की स्तुति करूँगा, यदि मैं उन लोगों को उत्तर देने की चिंता करूँ तो यह मेरा अपमान होगा।''**

'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका में, जिसके संपादक रवीन्द्रनाथ टैगोर स्वयं थे, **'भारत भाग्य विधाता'** शीर्षक से यह गीत जनवरी, 1912 के अंक में पहली बार प्रकाशित हुआ था। सच तो यह है कि राष्ट्रगीत को संपूर्ण राष्ट्र का बहुविध प्रतिनिधित्व करना चाहिए। उसकी भौगोलिक व्यापकता के साथ उसमें संपूर्ण जनता की भावनाओं का प्रतिबिंब झलकना अपेक्षित होता है। 'जन गण मन' में बड़ी सीमा तक इस अपेक्षा की पूर्ति होती है। देश का जन गण ही देश का अधिनायक है, वही इसके भाग्य का निर्माता है। यह जन सारे राष्ट्र में व्याप्त है-- पंजाब, सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र, द्रविड़ प्रदेश (दक्षिण के चारो प्रदेश), उड़ीसा, बंगाल, हिमाचल का सारा प्रदेश, विंध्याचल का सारा प्रदेश, गंगा-यमुना का प्रदेश, देश के तीन ओर समुद्र की तरंगों से भरा हुआ, इस संपूर्ण राष्ट्र की सदा जय हो। इस राष्ट्र की संपूर्ण चिंता में

एकता की आकांक्षा तो है, पर एकरूपता को यहाँ प्रश्रय नहीं है। हमारा राष्ट्र गान इसी विविधता को व्यंजित करता है। हमारी राष्ट्रीयता की अवधारणा में इसकी विविधता मूल मंत्र है। यही उसकी वास्तविकता है। इस वस्तुस्थिति को जितना हम आत्मसात करेंगे, उतना ही राष्ट्र की अवधारणा को सुदृढ़ करेंगे।

भारतीय रेल ने कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर को श्रद्धांजलि अर्पित करने के ख्याल में पिछले 9 मई, 2010 से प्रदर्शनी गाड़ी 'संस्कृति एक्सप्रेस' चलाकर एक सराहनीय कार्य किया है। गुरुदेव के जीवन से संबंधित अनेक दुर्लभ तस्वीरों से सुसज्जित प्रथम कोच का नाम 'जीवन स्मृति', गुरुदेव द्वारा लिखित कविताओं एवं गीतों को विशिष्ट अंदाज में दूसरे कोच 'गीतांजलि' में प्रस्तुत किया गया तथा तीसरे कोच 'मुक्तोधारा' में कविगुरु के उपन्यास एवं कहानियों का संसार और चौथे कोच 'चित्ररेखा' में रवीन्द्रनाथ टैगोर पेंटिंग रखे गए। पाँचवें कोच 'शेष कथा' में कविगुरु की अंतिम यात्रा से संबंधित तस्वीरें रखी गई जिसके लिए रेल मंत्री ममता बनर्जी बधाई की पात्र हैं। इसी प्रकार भारत सरकार ने नई दिल्ली के राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय में 'द मास्टर्स स्ट्रोक्स आर्ट ऑफ रवीन्द्रनाथ टैगोर' शीर्षक प्रदर्शनी का आयोजन कर उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना श्रेयष्कर माना जाएगा।

कवि, नाटककार, दार्शनिक, शिक्षाविद् और संगीतकार के रूप में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की ख्याति तो पहले से ही थी, लेकिन उन्होंने पेंटिंग 60 साल की उम्र के बाद शुरू की और जीवन के आखिरी 17 वर्षों में 3000 से ज्यादा तैलचित्र और रेखाचित्र बनाए। टैगोर ने पेंटिंग को अपने बेचैन और कल्पनाशील मन को अभिव्यक्ति करने का एक और माध्यम बनाया। उन्होंने पेंटिंग की कोई औपचारिक शिक्षा नहीं ली, मगर उनके चित्रों में बेजोड़ लयात्मकता और सूक्ष्म कल्पनाशीलता दिखाई देती है। भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय के सहयोग से विश्व भारती टैगोर के तैलचित्रों और रेखाचित्रों के एक संकलन का प्रकाशन उनकी 150वीं जयंती पर तथा विश्व भारती, संस्कृति मंत्रालय और राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय के संयुक्त तत्त्वावधान में अगले साल यानी 2011 में गुरुदेव की पेंटिंग की प्रदर्शनी का आयोजन पेरिस में करने की योजना को प्रशंसनीय कहा जाएगा।

कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर साहित्य के एक ऐसे महामानव थे जिनके द्वारा साहित्य, राजनीति, गायन और व्याख्यान के क्षेत्र में किए गए कार्य से न केवल बंगाल, बल्कि भारत भी दुनिया के सांस्कृतिक नक्शे पर स्थापित हो गया। राजनीति में वे महात्मा गाँधी के समकक्ष थे। वे एशिया मूल के पहले व्यक्ति थे, जिन्हें गीतांजली साहित्य के लिए नोबल पुरस्कार से नवाजा गया। विश्व कवि की रचनाओं में समता और समानता के लिए प्रतिबद्धता जाहिर होती है। सच तो यह है कि वे समूचे विश्व सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक रहे हैं। यह कोई सामान्य बात नहीं है कि एक ब्रिटिश उपनिवेश के रचनाकार ने पूरी दुनिया में अपनी अमिट पहचान बनाई और पूरे विश्व ने उनकी रचनाओं को सराहा। **'जहाँ चित्त भय से शून्य हो, जहाँ हम गर्व से सिर उठाकर चल सकें, जहाँ ज्ञान मुक्त हो'** कर उद्‌घोष करने वाले नोबल पुरस्कार विजेता गुरुदेव टैगोर' के जन्म के 150 वर्ष बाद भी इस महाद्वीप में उनके कद का कोई शख्स सामने नहीं आया है।

गुरुदेव टैगोर की पत्नी मृणालनी से पाँच संतानें थीं जिसमें तीन सुपुत्र और दो सुपुत्रियाँ थीं। पेट संबंधी बीमारी की वजह से मृणालनी का देहांत वर्ष 1902 में हो गया। कहा जाता है कि कवि गुरु टैगोर स्वयं कोई विशेष स्कूली शिक्षा ग्रहण नहीं कर सके थे, परंतु अपने आस-पास के जीवन व्यवहार से उन्होंने जो शिक्षा ग्रहण की थी, उसने उनके हृदय को सच्चा मनुष्य हृदय बना दिया था। उनके समस्त चिंतन का मूल है उनका धर्मबोध और सौंदर्यबोध। धर्म को उन्होंने किसी भी प्रकार के बाह्य क्रिया-कलापों अथवा तीर्थव्रतों में नहीं समझा, बल्कि अपनी व्यापक मानवीय वैश्विक दृष्टि के अनुसार उन्होंने धर्म के अर्थ को मनुष्य की चेतना के भीतर चिन्हित किया। सौंदर्य को भी उन्होंने सभी मनुष्यों की आंतरिक एकता का बोध कराने वाले तत्व के रूप में ग्रहण किया।

कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर की 150वीं जयंती पर आज भारतीय मानीषा और भारतीय साहित्यकारों को पुन: उस चिंतन से परिचित होने की आवश्यकता है। आज के भौतिकवादी युग में जब जीवन-मूल्यों का तेजी से क्षरण हो रहा है, हमें उन्हें बचाने के रास्ते तलाशने होंगे। साहित्य, धर्म, सौंदर्य और सबसे ऊपर मनुष्य इन सबके प्रति कविगुरु के उसी उदात्त चिंतन को ग्रहण करना होगा। यह हमारा सामाजिक दायित्व है कि हम गुरुदेव के प्रति श्रद्धा निवेदित करें और उनकी चेतना के उन तत्त्वों की चर्चा करें जो उन्हें विश्व कवि के साथ-साथ ऋषि कवि के रूप में स्थापित करते हैं।

◗ बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड, पटना, बिहार ।

जैनसंत आचार्यश्री महाप्रज्ञ : जिनकी सर्जनात्मकता से संपूर्ण मानवता लाभान्वित हुई

महान दार्शनिक तथा युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के योग्यतम उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाप्रज्ञ जैन समाज की तेरापंथी धारा के श्वेताम्बर अनुयायियों के 10वें गुरु थे जिन्हें 12 नवंबर 1978 में आचार्य महाप्रज्ञ की उपाधि दी गई थी। राजस्थान के झुंझनु जिलांतर्गत टमकौर गाँव में 14 जून, 1920 को जन्मे नथमल जब महज ढाई साल के थे तभी उनके पिता तोलाराम का निधन हो गया था। दस साल की उम्र में ही उन्होंने सन्यास ग्रहण कर लिया। संयमी जीवन उनका बीजमंत्र बना और बाल्यकाल में ही वे मुनि नथमल हो गए। सौम्य आकृति, सरल स्वभाव, तीव्र मेधाशक्ति के धनी मुनि नथमल को आचार्यश्री तुलसी का सान्निध्य और शिक्षा मिली। आचार्यश्री तुलसी से ही उन्हें दर्शन, न्याय, व्याकरण, कोष, मनोविज्ञान, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों के अध्ययन का अवसर मिला। यही कारण है कि वे आगे चलकर भारतीय दर्शन के सफलतम व्याख्याकार सिद्ध हुए। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने विज्ञान और अध्यात्मक को परस्पर पर्याय के रूप में प्रस्तुत किया। धार्मिक क्षेत्र में यह पूर्णतः नया सिद्धांत है जिसने धर्म के संदर्भ में नई दिशा दी। इनके पूर्व तक इन दोनों को दो ध्रुव माना जाता रहा है। इन्होंने विविध विषयों पर शताधिक ग्रंथ लिखे हैं जिनमें उनका मौलिक चिंतन प्रस्फुटित हुआ है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ एक साहित्यकार ही नहीं, संवेदनशील कवि, समाज सुधारक, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व एवं अहिंसा के प्रचारक, सत्य, ज्ञान के मार्ग पर चलने वाले सरल एवं ऊँचे विचार से परिपूर्ण महान पुरुष थे। जैन धर्म अनुयायियों के साथ ही संपूर्ण विश्व को जैन धर्म के आदर्शों तथा शिक्षाओं से अवगत कराने वाले आचार्यश्री महाप्रज्ञ की तर्क शैली इतनी सम्मोहक होती थी कि मुझे भी उनके सान्निध्य में आने का अवसर तब मिला जब नई दिल्ली के महरौली स्थित साधना सभागार में आयोजित चतुर्मास में मुझे इनसे मिलवाया गया। दरअसल, भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के कार्यालय, प्रधान महालेखाकार (लेखा परीक्षा), बिहार, पटना से वरिष्ठ लेखा परीक्षा अधिकारी पद से मैंने जब व्यापक व वृहत्तर समाज एवं राष्ट्रहित में स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति लेकर राष्ट्रभाषा हिंदी तथा पत्रकारिता की सेवा करने हेतु नई दिल्ली में रहना प्रारंभ किया, तो वहाँ गाँधी शांति प्रतिष्ठान एवं गाँधी दर्शन समिति के अतिरिक्त डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद अकादमी तथा अणुव्रत भवन स्थित अणुव्रत एवं तेरापंथी के अधिकारियों व सदस्यों से मुझे मिलने का मौका मिला।

यों तो मेरे परिवार की मेरी पीढ़ी तक के सभी सदस्य शुद्ध रूप से शाकाहारी रहे हैं और अहिंसा में सभी का विश्वास रहा है फिर भी भगवान महावीर व महात्मा गाँधी के बताए रास्ते अहिंसा पर अपने भाव व्यक्त करने का नशा मुझ पर तब चढ़ा जब 16 एवं 17 नवंबर 2002 को नई दिल्ली में राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था 'राष्ट्रीय विचार मंच' द्वारा वैचारिक क्रांति को केंद्र में रखकर आयोजित दो-दिवसीय राष्ट्रीय अधिवेशन के सिलसिले में अणुव्रत महासमिति के राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ0 धर्मेन्द्रनाथ 'अमन' के सौजन्य से मुनिश्री सुखलाल सहित अनेक मुनि संतों के सान्निध्य में मैं आया और अहिंसा के बारे में मुझे कुछ और अधिक जानने-समझने का अवसर मिला। सच मानिए अहिंसा यात्रा के प्रवर्तक आचार्यश्री महाप्रज्ञ की विलक्षण क्षमता और वक्तृत्व कला का मुझ पर जैसे जादू चढ़ गया। उनके आचरण, वेश-भूषा, सादगी और देश की वर्तमान समस्याओं पर उनके विचारों से मैं दिन-ब-दिन रू-ब-रू होता रहा। इसी क्रम में जब अणुव्रत महासमिति के अध्यक्ष पद का दायित्व आचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा डॉ0 महेन्द्र कर्णावत के सबल कंधों पर दिया गया तो उन्होंने भी मुझे अणुव्रत महासमिति की राष्ट्रीय कार्यकारिणी में सदस्य के रूप में रखा। दरअसल, मैंने भी 'राष्ट्रीय विचार मंच' और उसके मुख-पत्र 'विचार दृष्टि' के उद्देश्यों को अणुव्रत आंदोलन के अनुरूप पाया। डॉ0 धर्मेन्द्रनाथ 'अमन' और डॉ0 महेन्द्र कर्णावट के आमंत्रण पर जब अणुव्रत महासमिति तथा चतुर्मास के आयोजन में मैं शामिल हुआ, कई कंठ से 'संयममय जीवन हो......' अथवा 'सुनो, सुनो ये कहानी भगवान की......' अणुव्रत गीतों को सुमधुर स्वर में सुनकर मैं काफी अभिभूत हुआ। मुझे प्रसन्नता यह देख-सुनकर हुई कि

जिस उद्देश्य को लेकर हम अपनी संस्था और पत्रिका का संचालन कर रहे हैं, अणुव्रत महासमिति और अणुव्रत न्यास द्वारा भी उसे ही मूर्त रूप दिया जा रहा है।

इस प्रकार मैंने देखा कि दोनों का लक्ष्य एक वैचारिक क्रांति का अलख जगाना है। दोनों का मानना है कि वैचारिक क्रांति के बिना आचार-क्रांति संभव नहीं। फिर हम भी चल पड़े उसी रास्ते जिसे आचार्यश्री तुलसी और उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने दिखाया। जीवन में मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए प्रतिपादित अणुव्रत आंदोलन को जन-जन तक पहुँचाने के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा वर्ष 2001 से 2006 की अवधि में अहिंसा यात्रा की गई जो मात्र एक पद-परिक्रमा ही नहीं, बल्कि राष्ट्र की समस्याओं को समझने-समझाने का भी क्रम था। यह जन-जन में चेतना फैलाने का एक प्रयास था। देश की समस्याओं को जगाने का अभियान था। आचार्यश्री महाप्रज्ञ का यह अभियान निरंतर गतिमान रहा। मुझे इस बात की खुशी है कि उनकी इस अहिंसा यात्रा के दौरान सूरत में आयोजित चतुर्मास के सम्मेलन में अणुव्रत महासमिति के आमंत्रण पर मुझे भी सम्मिलित होने का मौका मिला जिसमें 'अहिंसक समाज की संरचना में लेखकों की भूमिका' विषय पर हुई संगोष्ठी की अध्यक्षता का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। मुझे लगा कि अहिंसा यात्रा की इस पावन अवधि में ही साक्षात् महावीर के दर्शन और अहिंसा के संबंध में उमड़ रहे अपने भावों को मुझे अभिव्यक्त करने का अवसर आचार्यश्री महाप्रज्ञ के समक्ष मिला और बाद में अपने उन्हीं भावों को जापानी विधा सेन्र्यू छंदों में मैंने बाँधा और अपने काव्य-संग्रह 'जागरण के स्वर' में संजोया।

भारत सहित पूरे विश्व में तनाव, आतंक, हिंसा एवं बर्वादी के चलते हो रही तबाही से पूरी मानव जाति को बचाने का आज एक ही रास्ता बचा है कि हम लौट चले अहिंसा की ओर-जिसके लिए भगवान महावीर, आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ के बताए रास्ते पर चलकर एक ओर जहाँ संयममय जीवन जीना होगा, वहीं दूसरी ओर असत्य पर विजय पाने के लिए संघर्ष भी करना होगा, क्योंकि अँधकार के विरुद्ध संघर्ष भी जरूरी है। जाति, वर्ण, भाषा, क्षेत्रीयता और धर्म का भेदभाव न रखते हुए मनुष्य को भी सदाचार की ओर आकृष्ट कर बचाया जा सकता है। इसी प्रकार का प्रयास अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने अहिंसा यात्रा द्वारा जन-जन में संदेश पहुँचा कर किया। आज की भयावह परिस्थिति में नैतिक मूल्यों का विकास और अहिंसक चेतना का जागरण जरूरी है। वैसे भी देशवासियों के समक्ष सदा से त्याग, संयम और संघर्ष का आदर्श रहा है। देश की आजादी भी तो हमने इसी के बल पर हासिल की। इसलिए मनुष्य के भीतर जो हिंसा और असत्य-भाव हैं उसकी सफाई करनी होगी, अहिंसा के प्रति आस्था जगानी होगी, क्योंकि हिंसा स्वयं तो एक समस्या है ही, साथ ही अनेक समस्याओं की जननी भी है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने इसी का संदेश दिया और अहिंसक जीवन शैली का प्रयोग किया। उन्होंने अहिंसा के संदोशों के क्रम में इच्छाओं का संयम, पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं के मूल में बैठे संयम का सहिष्णुता, उदारता, सहृदयता और त्याग-भावना को आधार माना। बल्कि सच तो यह है कि उनका व्यावहारिक जीवन समभाव और विषमता को दूर कर समता के भाव को प्रश्रय देता है। इसलिए उनका हर संदेश हर इंसान और हर जमाने के लिए है। अणुव्रत महासमिति के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ0 धर्मेंद्र नाथ अमन तथा डॉ0 महेन्द्र कर्णावट दो ऐसे सहृदयी तथा अहिंसा के अनुरागियों के स्नेह और सदिच्छा ने अणुव्रत की ओर मुझे खींचा और इस दौरान मुझे मुनि सुखलाल जैसे कई संत मुनियों के संपर्क में आने और उनके विचारों से अवगत होने का मौका मिला। फिर तो अणुव्रत महासमिति की राष्ट्रीय कार्यकारिणी में सदस्य के रूप में मनोनीत कर अहिंसा के प्रचार-प्रसार तथा भगवान महावीर के बताए रास्ते पर चलने में मुझे गर्व का अनुभव होने लगा। फिर क्या था दिल्ली से लेकर राजस्थान, गुजरात के कई चतुर्मास के दौरान आयोजित अहिंसा से संबंधित विविध विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत करने हेतु मुझे आमंत्रित किया जाता रहा। एक दौर फिर ऐसा भी आया जब आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने स्वयं मुझे अपने पास बुलाकर अहिंसा समवाय के राष्ट्रीय संयोजक का दायित्व दे डाला जिस दायित्व को मैंने बड़ी निष्ठा और ईमानदारी से कई वर्षों तक निभाया। इस अवधि में जैसे-जैसे मैं आचार्यश्री महाप्रज्ञ के समीप और सान्निध्य में आता गया उनकी प्रतिभा और जीवन शैली से उतना ही प्रभावित होता गया। मुझे अच्छी तरह याद है एक बार जब वे प्रवचन कर रहे थे उन्होंने कहा था-- ''मानवीय इतिहास के तीव्रतम विभाजन के इस दौर ने वस्तुतः हमारे सहज तथा गहन भावनात्मक संबंधों को भी प्रभावित किया है। हमारी मानसिकता भयग्रस्त है। जीवन में

विकर्षण और वितृष्णा पैदा होती जा रही है। यांत्रिक जीवन-जन्य हताशा और कुंठा से हम अवसादग्रस्त हैं। हम नकारे होते जा रहे हैं, क्योंकि हम अपने शाश्वत मूल्यों को तिलांजलि दे पाश्चात्य की भोगवादी संस्कृति के मोहपाश में जकड़ गए हैं। ऐसी विषम परिस्थितियों में जैन धर्म की शिक्षाएँ हमारा मार्ग दर्शन कर सकती हैं।'' आचार्यश्री के प्रवचन इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में काफी सहायक हो सकते हैं, क्योंकि जैन धर्म की शिक्षाएँ काल सापेक्ष तथा शाश्वत मूल्यबोध से परिपूर्ण हैं। मुझे याद है कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने उनकी इसी प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हें आधुनिक विवेकानंद कहा था। यही नहीं भारत के पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी भी सार्वजनिक सभाओं में बहुधा कहा करते थे कि मैं महाप्रज्ञ-साहित्य का प्रेमी हूँ। यह कहना यथोचित होगा कि आचार्यश्री महाप्रज्ञ के दिव्य गुणों में विनम्रता, दया, करुणा, समझ, विवेक, धैर्य और विश्व-भ्रातृत्व प्रमुख हैं। वे संसार में भारत के सांस्कृतिक एवं प्रारंपरिक मूल्यों के प्रचारक थे। अहिंसा, नैतिकता, शांति, सामाजिक, धार्मिक, सौहार्द, आध्यात्मिकता, जीवन विज्ञान, प्रेक्षाध्यान आदि पर उनकी व्याख्या बेमिसाल थी।

गुरु-शिष्य परंपरा पर महाप्रज्ञ का मानना था कि प्राचीन काल में शिक्षा और साधना की पूरी व्यवस्था गुरुकुलों में होती थी। गुरुकुल में रहने वाले विद्यार्थी और साधक गुरु के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित रहते थे। उनकी दिनचर्या नियमित रहती थी। उनका रहन-सहन संयमपूर्ण और भोजन सात्विक होता था। गुरु के प्रति शिष्य का जो श्रद्धा और समर्पण का भाव होता, उससे अनायास ही शिष्य को शक्ति-जागरण का अवसर मिल जाता था। श्रद्धा और समर्पण के अभाव में न तो शिक्षा का समुचित विकास हो सकता है और न साधनाकार गुरु पर शिष्य के सर्वांगीण विकास का दायित्व रहता है, इसलिए वह उसकी हर वृत्ति और प्रवृत्ति पर ध्यान रखता है। जहाँ दायित्व नहीं होता, वहाँ ध्यान रखने की बात भी प्राप्त नहीं होती।

गुरुकुल वासी की पद्धति अब बदल चुकी है। आज की विचारधारा में वह मान्य भी नहीं है। अनुशासन-संबंधी प्राचीन मानदण्ड अब बदल चुके हैं। गुरु और अनुशासन के लिए पुराने समय में जो गौरव था, वह क्षीण होता जा रहा है, क्योंकि गुरुकुल की अपनी जो मर्यादाएँ होती हैं, वे आज कहीं नजर नहीं आतीं। दरअसल गुरु में भी आज गुरुता समाप्तप्राय है और शिष्य का श्रद्धा-संवलित समर्पण-भाव भी गायब है। ऐसी स्थिति में न तो शिक्षा की सुंदर व्यवस्था हो सकती है और न साधना की। इस दृष्टि से गुरुकुल व्यवस्था का अपना मूल्य है। उस व्यवस्था को परिमार्जित रूप में पुनः प्रतिष्ठित किया जा सके, तो शिक्षा और साधना-पद्धति में भी नया निखार आ सकता है, ऐसी आचार्यश्री महाप्रज्ञ की विचारधारा थी।

जैन संत आचार्यश्री महाप्रज्ञ का पिछले 9 मई 2010 को राजस्थान के चुरू जनपद के सरदार शहर में 90 वर्ष की उम्र में महाप्रयाण हो गया और 10 मई को उनका अंतिम संस्कार किया गया। वे पिछले कुछ दिनों से अस्वस्थ थे और सरदार शहर स्थित आश्रम में ही उनका उपचार किया जा रहा था। उनके महाप्रयाण से न केवल जैन धर्म के अनुयायियों, बल्कि अहिंसा और मानव धर्म के जो भी समर्थक हैं उन्हें गहरा धक्का लगा है और मैंने अपना एक प्रतिभावान मार्गदर्शक खोया है।

आधुनिक शांतिदूत के नाम से विख्यात आचार्यश्री महाप्रज्ञ को सन् 2002 में इंदिरा गाँधी शांति पुरस्कार और 2005 में मदर टेरेसा पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। अहिंसा के इस पुजारी ने अहिंसा को प्राणिमात्र में एक समग्र जीवन देखने का अंतरदर्शन माना और अहिंसा की इबादत को समग्र इंसानियत की इबादत। यही नहीं अहिंसा को विश्व धर्म की धूरी मानते हुए इसे उन्होंने मानवता की मुँडेर पर मोहब्बत का जलता हुआ चिराग कहा। अहिंसा को अक्षुण्ण रखने के लिए सबको अपनी पवित्र आहूतियाँ देनी होंगी। अपरिग्रह और अनेकांत इन दोनों को आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने दो हाथ माना। अपरिग्रह जहाँ हमें निर्वस्त्र नहीं करता, वहीं सबके लिए रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था भी अपरिग्रह है। भगवान महावीर के समस्त शास्त्रों और सिद्धांतों को नदियों के दो किनारों की तरह अहिंसा और विवेक को माना गया है। विवेक यदि साधना है, तो अहिंसा साध्य। विवेक किसी व्यक्ति की हथेली पर रखा हुआ वह दीपक है, जो अहिंसा के मार्ग को आलोकित और प्रदर्शित करता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ जीवनपर्यंत अपनी नैतिकता, अहिंसा, दिवेक, शाश्वत परंपरा, समृद्ध संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने पर बल देते रहे। आज वे हमारे बीच नहीं है। मैं उनकी स्मृति को प्रणाम करते हुए उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

▶ बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड, पटना, बिहार ।

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम 1857 की प्रासंगिकता

❑ डॉ. राजशेखर

"बुलबुल को गुल मुबारक, गुल को चमन मुबारक,
हम बेकसों को अपना प्यारा वतन मुबारक,
गुँचे हमारे दिल के इस बाग से खिले हैं,
इस खाक से उठे हैं, इस खाक में मिलेंगे।"

यही भावना अपने दिल में संजोये भारतवर्ष के कर्मवीर और देशभक्त नौजवानों ने 10 मई 2007 ई. को मेरठ के विक्टोरिया पार्क से उन पैदल सिपाहियों का अनुसरण किया था, जो आज से 150 वर्ष पूर्व इसी रास्ते से दिल्ली आए थे। इस रैली की अगुवाई 85 घुड़सवारों ने किया था। ये घुड़सवार उस महासंग्राम में मेरठ के शहीद हुए उन सिपाहियों की शहादत के प्रतीक थे, जिन्होंने चर्बीदार कारतूसों का इस्तेमाल करने से इंकार कर दिया था। यह रैली रास्ते में और लोगों को जोड़ते हुए दिल्ली के लालकिले पर 50 हजार के विशाल जनसमूह में परिवर्तित हो गयी थी। 11 मई 2007 ई. का यह कार्यक्रम 1857 ई. की जंग–ए–आजादी की उस घटना के प्रतीक के रूप में आयोजित किया गया था, जिसमें आजादी के दिवाने सैकड़ों सिपाहियों ने मेरठ से दिल्ली पहुँचकर आजादी की जंग का नेतृत्व सँभालने का अनुरोध बहादुरशाह जफर से किया था। भारत के अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर ने इन क्रांतिकारी सिपाहियों को लाल किले से 11 मई, 1857 ई. को संबोधित किया था:

"गाज़ियों में बू रहेगी जब तलक ईमान की,
तख्ते लंदन तक चलेगी, तेग हिंदोस्तान की।"

जब 1857 के स्वतंत्रता के प्रथम समर के रूप में केन्द्र सरकार द्वारा कार्यक्रम आयोजित किए जा रहे थे, तभी उससे कुछ महीने पहले, 10 जुलाई 1806 ई. में वेल्लूर में हुए सिपाही विद्रोह की 200वीं वर्षगांठ को प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के रूप में तमिलनाडु सरकार मना चुकी थी। एक डाक टिकट भी जारी किया गया, जिस पर लिखा था : पहला सैनिक विद्रोह। दूसरी तरफ एक गणमान्य व्यक्ति ने 10 मई 2007 ई. को संसद के केन्द्रीय कक्ष में आयोजित कार्यक्रम में यह कहकर सनसनी फैला दी कि प्रथम स्वतंत्रता संग्राम 1857 ई. का युद्ध नहीं, बल्कि 1845 ई. का आंग्ल–सिख युद्ध था।

इन वाद–विवादों पर गौर करें तो एक बात स्पष्ट है कि जब तक जन साधारण का जुड़ाव किसी क्रांति या आंदोलन से न हो तो वह महान आंदोलन का रूप नहीं ले सकता है। 1806 ई. में वेल्लूर में सिपाही विद्रोह होने से पहले बंगाल में 1764 ई. में एक सिपाही विद्रोह हो चुका था, जिसमें 30 सिपाहियों को तोपों के मुँह पर बाँध कर उड़ा दिया गया था। तो क्या इसे प्रथम स्वतंत्रता संग्राम न मान लिया जाये। इसी प्रकार 1824 ई. में बैरकपुर में सिपाहियों की 47वीं रेजीमेंट के समुद्री रास्ते से वर्मा जाने से इंकार कर देने पर उसके नेताओं को फाँसी दे दी गयी। 1844 ई. में भी वेतन और भत्ता के सवाल पर सात बटालियनों ने विद्रोह किया था। जहाँ तक युद्धों का सवाल है तो 1845 ई. के आंग्ल–सिख युद्ध से पहले भी कई महत्वपूर्ण युद्ध हुए हैं। जैसे : 1757 ई. का प्लासी का युद्ध, 1764 ई. का बक्सर का युद्ध, टीपू सुल्तान का अंग्रेजो से संघर्ष आदि। क्या इन्हें भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम न मान लिया जाये। महत्वपूर्ण यह नहीं है कि कौन सा प्रथम स्वतंत्रता संग्राम है। प्रथम के चक्कर में न पड़कर यह देखना ज्यादा जरूरी और तर्कसंगत है कि कौन–सा विद्रोह व्यापक था और उसका जुड़ाव आम लोगों से कितना था, साथ ही भारत की तत्कालीन राजनीति को उसने कितना प्रभावित किया।

1857 ई. का विद्रोह एक व्यापक असंतोष एवं स्वतंत्रता प्राप्ति की इच्छा का प्रतीक था। यह एक राष्ट्रीयता की भावना से ओत–प्रोत स्वतंत्रता संघर्ष था, जिसमें आम लोगों की भागीदारी थी। यह विद्रोह इतना महत्वपूर्ण था कि अंग्रजों को भारतीय प्रशासन की अपनी पूरी नीति बदलनी पड़ गयी। भारत पर से ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त हो गया और भारतीय प्रशासन सीधे ब्रिटिश क्राउन के अधीन आ गया। अंग्रेजों ने 1857 ई. के विद्रोह में जनता के उबाल को देखा था और उनकी देशभक्ति देखकर वे घबरा गये थे। परंतु अंग्रेज इतिहासकारों और उनके समर्थक भारतीय इतिहासकारों द्वारा इसे 'सैनिक विद्रोह अथवा गदर की संज्ञा देकर इसके महत्व को कम करने की कोशिश की जाती रही है। दूसरी तरफ कई विचारकों – पंडित जवाहरलाल नेहरू, विनायक दामोदर सावरकर, एस ए.ए. रिजवी, बेंजामिन डिजरैली, जस्टिस मेकार्थी, जान ब्रूस नार्टन, बिपिन चंद्र आदि ने 1857 ई. के विद्रोह को

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के प्रथम संघर्ष की संज्ञा दी है:

"सन् सत्तावन का विद्रोह सिपाही विद्रोह नहीं, अपितु स्वतंत्रता प्राप्ति के निमित्त भारतीय जनता का संगठित संग्राम था।"

– जवाहरलाल नेहरू

"1857 का विद्रोह केवल सैनिक विद्रोह नहीं था, अपितु यह भारतवासियों का अंग्रेजों के विरुद्ध धार्मिक, सैनिक शक्तियों के साथ राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा के लिए लड़ा गया युद्ध था।"

– जस्टिस मेकार्की

"1857 का विद्रोह स्वधर्म और राजस्व के लिए लड़ा गया राष्ट्रीय संघर्ष था।" **–विनायक दामोदर सावरकर**

पूर्व प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने 'जय जवान जय किसान' का नारा दिया था। इस नारे के पीछे की दृष्टि यह थी कि जो किसान वर्ग जमीन पर खेती कर पूरे देश का पेट भरता है, उसी किसान वर्ग से हमारे सैनिक आते हैं और पूरे भारतवर्ष की जमीन की रक्षा करते हैं। यही स्थिति अंग्रेजों के शासनकाल में भी थी। उस समय भी अधिकांश सैनिक इसी कृषक वर्ग से आते थे। अंग्रेज यहाँ के किसानों का काफी शोषण कर रहे थे। कृषक वर्ग अंग्रेजों की अनावश्यक कर प्रणाली से त्रस्त था। साथ ही, सैनिकों का वेतन इतना अधिक नहीं था कि वे आराम की जिंदगी जी सकें। वे कृषि पर भी निर्भर थे। अतः इस आकुलता और व्याकुलता के बीच किसानों का असंतोष सैनिकों तक पहुँचना स्वाभाविक था। इस तरह सैनिक भी वर्दीधारी किसान ही थे, जिन पर लगान का समान बोझ पड़ता था।

अंग्रेजों ने जमींदारों पर इस तरह से शिकंजा कसा हुआ था कि बहुत चाहते हुए भी वे किसानों के साथ कोई रियायत नहीं कर पाते थे। अकाल पड़ने पर भी वे विवश थे। थोड़ी–सी लगान वसूली में गड़बड़ी होने पर जमींदार अपनी जमींदारी से हाथ धो बैठता था। जो जमींदार अंग्रेजों के समर्थक नहीं थे, उनकी स्थिति दिन–प्रतिदिन दयनीय होती जा रही थी और उनके किसान लाचार। दस्तकार और बुनकर भी परेशान थे। उनके द्वारा बनाए गए सामानों के लिए बाजार में कोई स्थान नहीं था। एक ओर अंग्रेजों की आर्थिक नीति उन्हें लगातार कमजोर बना रही थी तो दूसरी ओर मशीनों के आगमन से उनकी बिक्री बुरी तरह प्रभावित हो रही थी।

अंग्रेजों ने भारतीयों की धार्मिक भावना का भी ख्याल नहीं किया। उन्होंने मंदिरों और मस्जिदों की जमीनों पर कर लगाये। जबकि भारतीय शासकों ने इसे करमुक्त रक्खा था। अंततः उन्होंने गाय और सुअर की चर्बी से बनी कारतूस से सैनिकों के धैर्य को समाप्त कर दिया और 1857 ई. का महान विद्रोह हुआ।

सर्वप्रथम ईस्ट इंडिया कंपनी के सिपाही मंगल पांडे ने बैरकपुर में ही 29 मार्च 1857 ई. को अंग्रेज अफसर पर गोली चलाई और अपने साथियों को बगावत के लिए ललकारा। 8 अप्रैल 1857 ई. को उसे फाँसी पर चढ़ा दिया गया। असंतोष की ज्वाला थमी नहीं और यह मेरठ पहुँच गयी। यहाँ पर कोर्ट मार्शल के तहत 85 सिपाही कैद थे। आजादी का बिगुल बजने के साथ ही सर्वप्रथम क्रांतिकारियों ने जेल में बंद सिपाहियों और बंदियों को मुक्त किया और दिल्ली चलो कहते हुए लाल किला फतह के लिए कूच कर गए। 11 मई को दिल्ली पहुँचकर सिपाहियों ने बहादुरशाह जफर को भारत का बादशाह घोषित कर लाल किले पर झंडा फहराया। बहादुरशाह जफर ने सभी राजाओं और सरदारों को पत्र लिखकर अंग्रेजों से मुकाबला करने और आजादी के लिए भारतीय राज्यों का एक महासंघ स्थापित करने का अनुरोध किया। परंतु ऐसा नहीं हो सका। भारतीय एकजुट नहीं हो सके। फिर भी वे बहादुरी से लड़े। रानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, तात्या टोपे, बेगम हजरत महल, कुँवर सिंह, मौलवी अहमदुल्ला जैसे क्रांतिकारियों ने अंग्रेजों के नाकोदम कर दिया। क्रांतिकारियों ने योजनाबद्ध ढंग से लड़ाई छेड़ी थी और जहाँ भी आंदोलन किया, वहाँ अंग्रेजों को हार का मुँह देखना पड़ा। मगर ये देश का दुर्भाग्य था कि शुरुआती समय में अंग्रेजों के विरुद्ध मिलती हुई सफलता में हमारे ही देश के कई सत्तालोलुप रजवाड़ों ने हमारा साथ न देकर अंग्रेजों का साथ दिया, जबकि इन रजवाड़ों की अधिकांश जनता क्रांतिकारियों के पक्ष में और अंग्रेजों के खिलाफ थी। नाना साहब ने अपने एक पत्र में लिखा था कि "शैतान रजवाड़ों ने अपने स्वार्थ के लिए इस देश को अंग्रेजों के हवाले कर दिया जबकि अंग्रेजों की हमारे सामने कोई हैसियत नहीं थी।"

प्रायः यह भ्रमजाल फैलाया जाता है कि यह आजादी की लड़ाई नहीं वरन् कुछ रजवाड़ों एवं सिपाहियों का विद्रोह था। साथ ही, इसकी कोई पूर्ववत योजना नहीं बनायी गयी थी। पर ऐसा बिलकुल भी प्रतीत नहीं होता है। इस लड़ाई की तैयारी काफी पहले से चल रही थी। कमल के फूल को क्रांति का प्रतीक माना जाता था। कमल को प्रत्येक छावनियों में घुमाया गया था। यह फूल जिन–जिन सैनिकों के हाथ में जाता वह सैनिक क्रांति की लड़ाई में शामिल होने के लिए वचनबद्ध होता। इस प्रकार क्रांति के प्रतीक कमल को कई छावनियों में घुमाया गया था।

इसी प्रकार रोटी या चपाती भी गाँव–गाँव और शहर–शहर एकता के प्रतीक के रूप में घुमायी जा रही थी। संदेशवाहक का कार्य साधु और फकीर कर रहे थे। वे घर–घर जाते और इस चपाती का एक हिस्सा स्वयं खाते और दूसरों को भी खिलाते। फिर उस गाँव में और भी रोटियाँ बनतीं और दूसरे

गाँवों में जातीं। जो भी इस रोटी को खाता वह आजादी की लड़ाई में शामिल होने को कृतसंकल्प होता। रोटी और कमल को एक साथ देखने के बाद महज एक क्रांतिकारी ही यह समझ पाता था कि अंग्रेजों के खिलाफ कुछ होनेवाला है। संचार माध्यम के अभाव में रोटी और कमल को संदेश के माध्यम के रूप में प्रयोग किया जाता था। लिखकर संदेश भेजने की तुलना में यह ज्यादा उपयोगी और सुरक्षित था क्योंकि अंग्रेजों को किसी प्रकार का शक नहीं होता था। इसीलिए हमारे पास उस समय के लोगों द्वारा की गई कार्रवाई का कोई लिखित प्रमाण नहीं है। जो थोड़े बहुत थे उन्हें अंग्रेजों ने घबराकर नष्ट कर दिये और अंग्रेजों द्वारा हमेशा अपनी वर्चस्वता का ही बखान किया जाता रहा। यह भी दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि अंग्रेजों द्वारा प्रस्तुत दस्तावेजों को ही आधार मानकर 1857 ई. की क्रांति का निष्कर्ष निकाला जाता रहा है।

समस्त देश के लिए आजादी की लड़ाई की तारीख 31 मई 1857 ई. सुनिश्चित कर ली गयी थी। दुर्भाग्यवश 29 मार्च 1857 ई. को ही मंगल पांडे की अगुवाई में विस्फोट हो गया। 31 मई 1857 ई. की योजना में अभी देरी थी। तैयारियाँ पूर्ण नहीं हुई थीं, फिर भी क्रांतिकारी बहादुरी के साथ लड़े। लड़ाई राज्य या राजा के लिए नहीं, वरन् अंग्रेजों के खिलाफ मातृभूमि की रक्षा के लिए थी।

इस लड़ाई में सिपाहियों के साथ आम लोगों ने भी बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया। इसे गाँव और शहर के लोगों का समान रूप से समर्थन प्राप्त था। एक आकलन के तहत अवध में अंग्रेजों के साथ लड़ाई में शहीद हुए 1,50,000 लोगों में से 1,00,000 से अधिक आम लोग थे। सिपाहियों के साथ सामान्य जनता भी अंग्रेजों के साथ लड़ी। किसानों, दस्तकारों, दुकानदारों, मजदूरों और जमींदारों ने इस विद्रोह में भागीदारी की और जन विद्रोह के चरित्र को चरितार्थ किया। जिन क्षेत्रों में जनता विद्रोह में शामिल नहीं हुई वहाँ भी विद्रोहियों को मानसिक और सामाजिक स्तर पर समर्थन प्राप्त था।

1857 ई. की क्रांति में अंग्रेज हिंदू–मुस्लिम एकता देखकर दंग रह गये। इसलिए उन लोगों ने फूट डालो और शासन करो की नीति अपनाई। हिंदुओं को यह कहकर डराया गया कि अंग्रेज चले गये तो देश का शासन फिर मुसलमानों के हाथ में आ जायेगा और मुसलमानों से यह कहा गया कि वे इस देश में अल्पसंख्यक हैं। यह दृष्टि अपनाकर अंग्रेजों ने सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया। यदि ऐसा न किया गया होता तो इस तरह दंगे नहीं होते। अतः उस समय की हिंदू–मुस्लिम एकता की आज के समाज में बड़ी प्रासंगिकता है। इसे एक सकारात्मक पहलू के रूप में देखे जाने की जरूरत है। हमें उस ऐतिहासिक याद को संजोकर रखना चाहिए और कुछ ऐसे कार्यक्रम होने चाहिए जिससे भारत की जनता जागरूक हो सके।

आज हम प्रथम स्वतन्त्रता समर की 153वीं वर्षगांठ पर हैं। आज हमें यह देखने की सख्त जरूरत है कि आखिर हमारे अंदर ऐसी कौन–सी कमजोरियाँ थीं, जिसके तहत हम बाहरी आक्रमणकारियों से हमेशा सभी मोर्चों पर पराजित होते रहे। यह सच है कि हमने पाकिस्तान को कई युद्धों में पराजित किया लेकिन उससे भी बड़ा सच यह है कि हम चीन से बुरी तरह पराजित भी हुए। अतः उन कमजोरियों एवं कमियों को जानना, समझना तथा सुधारना ज्यादा जरूरी है, तभी हम ऐतिहासिक घटनाओं से सबक ले सकेंगे और एक सशक्त राष्ट्र बन पाएँगे। फिर हमें न कोई आँख दिखा पायेगा और न ही पराजित कर पायेगा। जब भी देश को हमारी जरूरत होगी हम इस सोच के साथ अपनी भारतमाता की सेवा में निस्वार्थ भाव से उपस्थित हो सकेंगे कि:

"मेरी जाँ न रहे, मेरा सर न रहे,
ये साज न रहे, ये समा न रहे,
हे फकत हिंद मेरा आजाद रहे,
मेरी माता के सर पर ताज रहे।"

संदर्भ :—

- *आधुनिक भारत,* विपिन चन्द्र, एन.सी.आर.टी., नई दिल्ली, फरवरी 1995
- *आधुनिक भारत का इतिहास,* विपिन चन्द्र, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्रा. लि., नई दिल्ली– 110002, संस्करणः 2009
- *आधुनिक भारत का इतिहास,* बी. एल. ग्रोवर & यषपाल, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., रामनगर, नई दिल्ली–110055, संस्करण : 2005
- *आधुनिक भारत का इतिहास,* सं. आर. एल. षुक्ल, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पुनमुर्द्रणः 2003
- *आधुनिक भारत का इतिहास,* एम. एस. जैन, विष्व प्रकाशन, नई दिल्ली– 110002, संस्करणः1993
- *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष,* विपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पुनमुर्द्रणः 2004
- *भारत का वृहत इतिहास* भाग–3, मजुमदार, रायचौधुरी & दत्त, मैकमिलन इंडिया लि., नई दिल्ली– 110002, संस्करण 2005
- BBC.HINDI.com

कमरा नं.–109, c/o राजवीर सिंह मकान नं. – 200ए, मुनिरका गाँव, नई दिल्ली–110067

सहभागित

संस्कृत के उन्नयन हेतु
कृत शिक्षा बो
के तत्वावधान में
संस्कृत
एवं 29 दिसंबर, 20

24hrs. Computer care 9311281443

Solutions Point

- Annual Maintenance Contract/Warranty Support Services
- Desktop/Server/Network Management
- Information Security Management
- Data Storage & Back-up Solutions
- Sale Purchase of Various IT Products
- Mail Management Services
- Software Licensing Audits
- Web Design & Maintenance
- Training & Development
- Free On-Site Consultation

Corporate Office

Solutions Point Infotech, D-55, Laxmi Nagar, Near Sipra Hotel, Delhi-92

Tel-28822431, 42487975, 9811310733, 9711276884, 9873434085-7 Fax-42486862,

24 Hrs. Computer Care-9311281443, Connexxion-2431

Email: info@solutionspoint.net

http: //www.solutionspoint.net